धर्मों की एकता

विषय-सूची

प्रथम अध्याय—

द्वितीय अध्याय—

तृतीय अध्याय—

प्रथम अध्याय

धर्मों की एकता

प्रारंभिक

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः साक्षी चेताः सर्वभूताधिवासः ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधातु कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो यो दधाति ।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

(उपनिषद्)

जो धीर पुरुष समस्त प्राणियों में छिपे हुए, सबमें निवास करने-वाले, चेतन और साक्षीरूप भगवान् को अपने अंतर्गत ढूँढ़ते और प्राप्त करते हैं वे ही अक्षय सुख के भागी होते हैं, दूसरे नहीं ।

जो धीर पुरुष सर्वव्यापी, सब प्राणियों के अंतरात्मारूप भगवान् को, जो एक (अद्वितीय) होकर भी अनेक रूप धारण किये हुए है, अपने अंतर्गत ढूँढ़ते और प्राप्त करते हैं वे ही अक्षय सुख के भागी होते हैं, दूसरे नहीं ।

जो धीर पुरुष नित्यों में भी नित्य, चेतनों में भी चेतन (परम चेतन), बहुरूपों में एक (व्यापक), और कामनाओं की पूर्ति

करनेवाले भगवान् को अपने अंतर्गत ढूँढ़ते और प्राप्त करते हैं वे ही अक्षय सुख के भागी होते हैं, दूसरे नहीं।

जो एक और अवर्ण है, किन्तु जो अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल से नाना रूपों में प्रकट है और जो नाना रंगों से जगत् को रँगता, मिटाता और फिर रँगता है, वही देव (भगवान् परमेश्वर) हमें शुभ बुद्धि प्रदान करे।

तुफ़ा बेरंगे कि दारद रंग हाये सद हज़ार।
तुफ़ा बेशक्ले कि दारद शक्ल हाये बेशुमार॥
ब नामे आं के ऊ नामे नदारद।
ब हर नामे के ख़्वानी सर बर आरद॥
ब नामे आं के वाहिद दर कसीरस्त।
के अंदर वहदतश कसरत असीरस्त॥

आश्चर्य है, रंगरहित होकर भी उसके लक्ष-लक्ष रंग हैं और आकार न होते हुए भी असंख्य आकार हैं (निराकार और अरूप को हम जगत् के सब रूपों-रंगों में फैला हुआ देखते हैं)।

जिसका कोई नाम नहीं पर जिस किसी भी नाम से पुकारें, वही उसका नाम है; जो अखंड है किन्तु सब खंडों में (जगत् के समस्त रूपों में) वर्तमान है; जो एक है किन्तु जिसमें यह सारी अनेकता (नानारूप सृष्टि) समाई हुई है (उसी की हम वंदना करते हैं, वह हमारे कार्य में सहायक हो)।

ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मात् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्य स्मज्जुहुराणमेनः भूयिष्ठं ते नम उक्तिं विधेम। (वेद)

हे परमपिता, आपका अलौकिक प्रकाश हमारी बुद्धि को उत्तम प्रेरणा प्रदान करे। हमने आपके दिव्य प्रकाश के लिए उसे (बुद्धि को) आपके संमुख कर रक्खा है। हे अग्नि देवता (हे प्रकाश-पुंज परमेश्वर), हे जीवन और ज्ञान के आगार, हे सर्वज्ञ! हमें सत्पथ पर ले चलो जिसमें हम सुखी हों। हमें शक्ति दो जिसमें हम उन शत्रुओं से लड़ सकें जो हमारे अंदर झगड़ते और हमें कुमार्ग पर ले जाते हैं। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं।

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम,
अल हम्दो लिल्लाहे रब्बिलआ लमीन।
अर्रहमानिर्रहीम मालिके यौमिद्दीन,
इय्याका नाबोदो व इय्याका नस्तईन।
एहादे नस्सिरातल मुस्तक़ीम,
सिरातल्लज़ीना अनअम्ता अलैहिम।
गैरिल मग़ज़ूबे अलैहिम व लज़्ज़ाल्लीन,
आमीन। (क़ुरान)

हे दयामय! संसार की सृष्टि और रक्षा करनेवाले कृपालु परमेश्वर, हे न्यायकर्ता प्रभु, हम आपके सेवक हैं, आपसे कृपा की प्रार्थना करते हैं। हमें वह सुमार्ग दिखाइए जिस पर आपकी दुवा मिलती है। वह कुमार्ग न दिखाइए जिस पर चलनेवाले पथभ्रष्टों को आपका क्रोध और दंड प्राप्त होता है।

अपानो दरेंगो ज्याईतीम् आ क्षथ्रेम् वंघेउप मननघो अशात् आ पुरेंजुप पथो य एप् मज़दाओ अहुरो शएति। (गाथा)

हे परम प्रभु, हमें दीर्घजीवन और अचल धैर्य प्रदान करो,

सद्बुद्धि दो और वह सन्मार्ग दिखाओ जिस पर तुम ध्यानस्थ रहते हो और जो तुम तक ले जाता है।

Our father which art in heaven, hallowed be thy name. Thy Kingdom come. Thy will be done in earth as it is in heaven. Give us this day our daily bread and forgive us our debts as we forgive our debtors. And lead us not into temptation, but deliver us from evil ; for thine is the Kingdom and the power and the glory for ever. Amen (बाइबल)

हे परमपिता, तू जो स्वर्ग में है, तेरा नाम कीर्तिमान् हो। तेरा राज्य आवे और तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में पूरी होती है वैसे ही पृथ्वी पर भी पूरी हो। आज भी हमें नित्य का सा खाद्य दे और हमारे ऋणों को क्षमा कर जैसे हम अपने ऋणियों को क्षमा करते हैं। हे प्रभु, हमें प्रलोभनों में न फँसा, और दुर्गुणों से बचा क्योंकि जगत् में तेरा ही राज्य, तेरी ही शक्ति और तेरा ही यश सदा से फैल रहे हैं।

धर्म की आवश्यकता
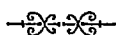
आजकल बहुत से लोग धर्म की आवश्यकता पर संदेह करने लगे हैं। धर्म के नाम पर होनेवाले कलह और खून-खराबे को देखकर आज हम शंकित हो उठे हैं और अपने आपसे पूछने लगे हैं कि हम आगे आनेवाली अपनी संतान पर धर्म जैसी चीज़ क्यों लादें, जो मनुष्य मनुष्य में द्वेष उत्पन्न करती, बुद्धि को गुमराह करती और (विवेक) दृष्टि को धूमिल बनाती है। इस प्रश्न का उत्तर हम आसानी से नकार में दे देते और तत्काल कह डालते कि हमें धर्म की आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसा करने में हम असमर्थ हैं। धर्म की हमें आवश्यकता है, धर्म हमारे लिए अनिवार्य है। धर्म की आवश्यकता केवल दो अवस्थाओं में नहीं होती। एक वह अवस्था जब हममें आगे और पीछे, अतीत और भविष्य को देखने, विचार करने और समझने की शक्ति नहीं होती अर्थात् जब हम पशुओं की अवस्था में होते हैं। दूसरी वह अवस्था जब हम समस्त भूत और भविष्य देख चुके होते हैं, सारा ज्ञातव्य जान चुके होते हैं——जब हम शाश्वत और अखंड, नित्य और सर्वव्यापक सत्ता को पा चुके होते हैं। इस अवस्था में धर्म का उद्देश्य पूरा हो गया होता है और उसकी आवश्यकता नहीं रह गई रहती। जब प्रत्येक मनुष्य जीवमात्र के साथ अपनी एकता का अनुभव कर चुका और समता का व्यवहार करने लगा, तब धर्म का उद्देश्य पूरा हो गया। किन्तु मनुष्यों के विकास की वर्तमान अवस्था में ऐसी ऊँची आत्माएँ बहुत थोड़ी हैं, अतः पशुकोटि से ऊपर उठा हुआ सारा मानवसमाज धर्म की

उत्कट आवश्यकता अनुभव करता है। जब कभी धर्म का एक रूप में ह्रास होता जान पड़ता है तब दूसरे रूप में उसका विकास भी होता रहता है।

यदि यह सत्य है (और सत्य तो यह है ही) कि मानव हृदय का यह अटल विश्वास कभी न टूटेगा कि इस ज़िन्दगी के परे भी कोई वस्तु है और यदि उस वस्तु तथा इस ज़िन्दगी के बीच के संबंध को जानने की इच्छा का कभी लोप न होगा, तो धर्म की आवश्यकता भी निश्चय ही सब समयों में रहेगी।

मनुष्य-समाज का बहुत बड़ा अंश धर्म के सच्चे अर्थ में उसके लिए इच्छुक रहता है। सच पूछिए तो प्रत्येक मनुष्य हृदय की गहराई में—अंतरंग में—उस अमर तत्त्व से संबंध जोड़ना, उसका विश्वासभाजन बनना, उसकी सहायता पाना और उसकी शरण और आश्रय में जाना चाहता है जो जगत् भर में और जीवमात्र में फैला हुआ है। इससे स्पष्ट है कि धर्म मनुष्य के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

यह बात दूसरी है कि धर्म का कोई बाहरी रूप या प्रकार हमारे लिए अनिवार्य नहीं। केवल उसका सार अथवा तत्त्व ही अनिवार्य है। किन्तु धर्म के बाहरी रूप की पूरे तौर पर अवहेलना भी नहीं की जा सकती। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से सबसे उत्तम, संतोष-जनक और बुद्धिसंमत उपाय यही है कि हम धर्म के सारतत्त्व को उसके बाहरी या ऊपरी उपचारों से अलग कर लें—छिलके को पछोर कर फेक दें और अन्नकण निकाल लें—और अपनी नवीन संतति के सामने उन कणों को रखकर यह कहें कि छिलके केवल इन अन्नकणों की रक्षा के लिए आवश्यक थे, छिलका खाने की चीज़ नहीं है।

कुछ लोगों का यह भी विचार है कि पुराने ज़माने में जो कुछ काम धर्म किया करता था अथवा जिसके करने की उससे आशा की जाती थी (और गए-बीते तरीके से जो कुछ उसने किया भी) अब उसका समय बीत गया है। उसकी स्थानपूर्ति दर्शन, विज्ञान, कानून और कला द्वारा हो चुकी है। अब तो नए-पुराने, सुधरे-बेसुधरे किसी भी धर्म की आवश्यकता नहीं रही। इसका उत्तर हम यह देंगे कि दर्शन, विज्ञान और कानून इन तीन कठघरों में मानवात्मा बंद नहीं रह सकती। वह इन तीनों में भी साम्य, साहचर्य और ऐक्य ढूँढ़ना चाहती है। ऐक्य का वह साधन धर्म ही है जो इन तीनों में मेल कराता है और मनुष्यों के हृदयों को एक सूत्र में बाँधता तथा संसार के मायाजाल से खींचकर उन्हें एक अखंड ईश्वर से ला जोड़ता है।

धर्म बुनियादी सत्ता या नींव है। उसी के आधार पर दर्शन, विज्ञान, कला-कौशल आदि की इमारत खड़ी हो सकती है।

कुछ व्यक्तियों, समाज के कुछ वर्गों अथवा राष्ट्र के कुछ बड़े हिस्सों में भी धर्म के प्रति अश्रद्धा या विद्रोह का भाव फैल सकता है। यदि समाचारपत्रों की ख़बरें सच हैं तो हम कह सकते हैं कि रूस की शासनसत्ता ने उस देश की चौहद्दी से धर्म को निकाल बाहर करने का भार अपने ऊपर ले लिया है। किन्तु इस समाचार का खंडन भी किया जाता है। हाल ही में यह संवाद छपा था कि रूसी जनता का बहुत बड़ा हिस्सा अपने धार्मिक स्थानों और गिरजाघरों से संपर्क बनाए हुए है और कठोर राजकीय दंड के रहते भी उनसे नाता तोड़ने को तैयार नहीं है। अंतिम ख़बर यह है कि रूसी सरकार ने अब धार्मिक विषयों से अपने को तटस्थ

कर लिया है और उनमें अब दस्तंदाजी नहीं करेगी। सारांश यह है कि साधारण तौर पर धर्म की प्रचलित मान्यताओं, रीतियों और पद्धतियों के विरुद्ध, विशेष कारणों से, कुछ समय के लिए, किसी भूभाग में, विद्रोह उठ सकता है। धर्म के दुरुपयोगों और पंडों-पुरोहितों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो सकती है, किन्तु धर्म के मूलतत्त्व का बहिष्कार किसी प्रकार संभव नहीं है।

किसी भी वस्तु की अति अच्छी नहीं होती। पश्चिम के एक कवि ने कहा है The World is too much with us night and day (दिन-रात दुनियादारी के झंझटों में हम फँसे रहते हैं)। पाश्चात्य देशों में विज्ञान और क़ानून की अति हो रही है और वे अनावश्यक रूप से मानव-जीवन पर हस्तक्षेप किया करते हैं। विशेषकर क़ानून तो पश्चिमी जनसाधारण के पीछे पड़ गया है। नए-नए क़ानून निकलते जा रहे हैं और धारा-सभाएँ नवीन नियमों की सृष्टि करने में जुटी हुई हैं। हिसाब लगाकर देखा गया है कि इँगलैण्ड जैसे देश में आजकल दस में से एक (दूसरी गणना के अनुसार सात में से एक) मनुष्य क़ानून के शिकंजे में पड़ता है, जुर्माना देता है अथवा जेल जाता है। निश्चय ही यह राष्ट्र के स्वस्थ विकास का चिह्न नहीं है।

इसी प्रकार हम एशियावासी (और विशेषकर भारतवासी) यह अनुभव कर सकते हैं कि धर्म के नाम पर हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर अनावश्यक आक्रमण हो रहे हैं। किन्तु एक इसी बात से यह नहीं सिद्ध होता कि धर्म की आवश्यकता हमें नहीं है। इससे तो इतना ही प्रकट होता है कि किसी अच्छी वस्तु की भी 'अति' अवांछनीय हो जाया करती है।

भौतिकवाद की अति
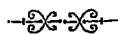
आज संसार भर में हम संघर्ष और लड़ाई झगड़े का बोलवाला देखते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण है भौतिकवाद की अति और धार्मिक भावना का अभाव। दुनियाँ भर में मारक अस्त्र-शस्त्र इतने बड़े पैमाने पर एकत्र किए गए कि युद्ध के रूप में उनका फूट पड़ना अनिवार्य हो गया। जब तक अस्त्र-शस्त्रों और विस्फोटक द्रव्यों का यह महान् भंडार खत्म होगा तबतक संसार के राष्ट्र विनाश के कगार पर पहुँच जायँगे। इसके बाद उनके पुनर्निर्माण का प्रश्न होगा।

यह संभव है कि राष्ट्रों में (और विशेपकर उसके भाग्य-विधाता नेताओं में) अब भी सद्बुद्धि उत्पन्न हो और युद्ध की विध्वंसक लपटें संसार के अन्य राष्ट्रों में न फैलने पावें, उनका शीघ्र ही शमन हो जाय। जगत् के स्रष्टा और पालनकर्ता भगवान् से हमारी प्रार्थना यही है। किन्तु युद्ध के शीघ्र समाप्त होने पर भी नवनिर्माण का सवाल तो उठेगा ही। क्योंकि यदि दुनियाँ को उसी हालत में रहने दिया जाय जिस हालत में वह अबतक रही है तो लौट-फिर कर वही झगड़े, वही वैमनस्य और ईर्ष्या द्वेष उभरेंगे और अधिकाधिक भयानक युद्धों का सिलसिला लगा ही रहेगा।

नए ढंग से संसार का निर्माण करने का तरीका क्या है? तरीका है एक 'विश्वव्यापी धर्म' की योजना। वह विश्वव्यापी धर्म जो समस्त प्रचलित धर्मों का एका स्थापित करे। जो हमारे घरेलू और

सामाजिक प्रेमभाव को बढ़ावे और पारस्परिक विश्वास को दृढ़ करे। जो ईर्ष्या-द्वेष और फूट के विस्फोटों को शान्त करे और उन शक्तियों को समेटे जो मेल और घनिष्ठता उत्पन्न करनेवाली हैं। इसी विश्व-व्यापी धर्म का एक अंग होगा एक ऐसा सामाजिक संघटन जिसमें व्यक्तित्व का ह्रास न होने पावे और जो विज्ञान (विशेषतः मानव-स्वभावविज्ञान) के नियमानुकूल हो।

यह विश्वव्यापी धर्म समस्त राष्ट्रों के धर्मग्रन्थों की बुनियाद पर बनेगा। यह जिस सामाजिक संघटन को, धर्म का अंग बनाकर, स्थापित करेगा उसकी रूप-रेखा हमें वैदिक धर्मग्रन्थों में प्राप्त होती है। वास्तविक धर्म वह है जो जीवमात्र के लिए सब समयों में उपयोगी हो और जिससे इस लोक में और परलोक में अधिकाधिक सुख प्राप्त हो सके।

आज सब जगह संसार के महान् राष्ट्रों के शासकवर्ग, चाहे वे निर्वाचित अध्यक्ष हों अथवा तानाशाह हों, सम्राट् हों या प्रधान मंत्री हों, अथवा पूँजीपति या शस्त्रपतियों का कोई गुट हो, सभी इस प्रयत्न में लगे हैं कि जितनी शक्ति उन्हें प्राप्त है उसमें और भी अधिक वृद्धि हो। जो दुर्बल और पराधीन देशों और राष्ट्रों के नेता हैं वे भी उस शक्ति को फिर से पाने की कोशिश कर रहे हैं जो उनके स्वतंत्र पूर्वजों को प्राप्त थी। किन्तु न तो वे स्वतंत्र देशों के शासक और न ये परतंत्र देशों के नेता इस बात पर विचार करने को तैयार हैं कि जो शक्ति वे प्राप्त करना चाहते हैं उसका किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है और किस प्रकार किया जाना चाहिए। किस उपाय से यह सारा शक्ति संचय या संघटन शान्ति के लिए हो युद्ध के लिए नहीं। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक जाति और

इस प्रकार समस्त मानवसमाज किस प्रकार नियमित रूप से शान्ति के लिए संघटित किया जाय । आज तो वे सभी युद्ध के लिए अथवा राजनीतिक संघर्ष के लिए संघटित होने में व्यस्त हैं। आज उनकी प्रवृत्ति यह है कि पहले खूब बड़े पैमाने पर शक्ति संगृहीत कर लें फिर जो कुछ सोचना होगा उसके बाद फुर्सत से सोचेंगे।

सभी बड़े राष्ट्रों को स्वराज्य प्राप्त है। कम-से-कम वे कहते तो यही हैं । जिन पराधीन और पददलित देशों के नेता स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं वे भी विज्ञापित यही करते हैं कि उन्हें स्वराज्य चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट है कि कहीं भी इस बात की चेष्टा नहीं की जा रही कि कोई इस प्रश्न पर भी विचार करे कि वास्तव में स्वराज्य है क्या वस्तु और वह स्वराज्य किस प्रकार 'सुराज्य' भी बनाया जा सकता है। कोई यह विचार करने को तैयार नहीं कि सच्चा स्वराज्य आजकल की धाँधली से भरी हुई चुनाव-प्रणाली द्वारा चुने गए निकृष्ट कोटि के अथवा मध्यम कोटि के मुट्ठी भर व्यक्तियों का राज्य नहीं है बल्कि वह राष्ट्र के सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों का राज्य है। आज कोई इस बात के लिए प्रयत्न करता नहीं दीखता कि राष्ट्र के सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों का चुनाव हो कैसे, और किस प्रकार पृथिवी पर स्वर्ग का राज्य अवतरित हो। यह ध्रुव सत्य अत्यंत सरल और सुस्पष्ट है कि मानवजाति की सुख-समृद्धि तभी हो सकती है जब उत्तम कोटि के विवेकपूर्ण क़ानून बनें और यह भी सभी जानते हैं कि अच्छे क़ानूनों का बनाना और पालन कराना श्रेष्ठ पुरुष और श्रेष्ठ नारियों का ही काम है। किन्तु इन सीधे-सादे स्वयंसिद्ध सत्यों को समझना और अमल में लाना कितना कठिन है इसका अंदाज एक इसी बात से लग सकता है कि आज सैकड़ों

सहस्रों वर्षों के कटु अनुभवों के बाद भी हम इनका पालन करने के लिए उत्कृष्ट कोटि के सत्पुरुषों को व्यवस्था-सभाओं में भेजने और उन्हें ही शासन-सूत्र सौंपने को अबतक तैयार नहीं हो सके।

फल यह है कि हमारे युद्धप्रिय शासक और संघर्षप्रिय नेतागण उदार मानवता के भावों से नहीं बल्कि संकीर्ण और अदूरदर्शी प्रादेशिकता के भावों से प्रेरित हैं और कहीं कहीं तो निम्न कोटि की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से परिचालित हो रहे हैं। वे अंधकार में चक्कर लगा रहे हैं और जनता 'अंधेन नीयमाना यथान्धाः' की दशा को प्राप्त हो रही है।

सत्य का मार्ग उनसे छिपा है, यह वे नहीं कह सकते। वे स्वयं वर्तमान दशा से ऊब कर दूसरी ओर मुड़ रहे हैं। धर्मग्रंथों का प्रकाश उनकी आँखों को दीप्तिमान करने लगा है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि क्षुद्र स्वार्थ, संकीर्ण अहंभावना और सीमित प्रादेशिकता की मोटी पट्टियों को हम अपनी आँखों से उतार डालें और मानवबंधुत्व का स्वच्छ चश्मा पहन लें। सच्ची शान्ति और समुन्नति का मार्ग तब साफ़ साफ़ दिखाई देगा।

युद्ध के लिए संघटित होने अथवा राष्ट्रीय संघर्ष की योजना करने का काम तत्काल अधिक आवश्यक प्रतीत हो सकता है, पर शान्ति के लिए संघटित होना अवश्य ही उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। युद्ध का संघटन एक क्षणस्थायी उद्देश्य है। शान्ति का संघटन एक स्थायी समस्या और स्थायी लक्ष्य है।

इस स्थायी समस्या का समाधान और स्थायी लक्ष्य की पूर्ति किस उपाय से होगी? विश्वव्यापी धर्म की योजना और उसके प्रचार-प्रसार द्वारा।

धर्म और विज्ञान
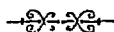
बहुत से लोग धर्म और विज्ञान में परस्पर विरोध देखा करते हैं। उनका ख्याल है कि मनुष्य-सभ्यता के आरंभिक काल में धर्म का प्राधान्य था किन्तु अब ज्ञान और विवेक की वृद्धि के साथ विज्ञान प्रधानता ग्रहण कर रहा है। यह बात आधुनिक समय के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने ग़लत बतलाई है। कुछ समय पहले तक पश्चिमी देशों में विज्ञान अपने को दृश्य और इन्द्रियगम्य भौतिक पदार्थों की जिज्ञासा तक सीमित रख रहा था। उसके आगे बढ़ने को वह तैयार नहीं था। केवल कुछ थोड़े से अनिवार्य अवसरों पर विज्ञान परोक्ष विषयों और सिद्धान्तों की चर्चा कर लेता था। उस समय लोगों की यह धारणा थी कि धर्म का युग अब व्यतीत हो गया। धर्म उस समय मुख्यरूप से अतीन्द्रिय जगत् की रहस्यमयी सत्ता की खोज करनेवाला समझ लिया गया था। उसमें पारलौकिक विषयों की प्रधानता भी हो रही थी। इसलिए धर्म और विज्ञान परस्पर भिन्न क्षेत्रों की वस्तुएँ समझी जाने लगी थीं।

किन्तु वह स्थिति अब नहीं रही। आज तो विज्ञान का लक्ष्य अधिकाधिक सूक्ष्म मानसिक जगत् का अन्वेषण होता जा रहा है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक इस कार्य में संलग्न हैं। अब क्रमशः स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के कठघरे टूटते जा रहे हैं और विज्ञान तथा धर्म का झगड़ा मिटता जा रहा है। दूसरी ओर धर्म भी केवल परलोक के लिए

परवाना देने का माध्यम नहीं रह गया वह लौकिक कर्तव्यों और समस्याओं से भी संपर्क रखने लगा है।

प्रसंगवश हमें यह भी जान लेना चाहिए कि धर्म का झुकाव इस दुनियाँ से हटकर दूसरी दुनियाँ या परलोक की ओर उन्हीं समयों में हुआ है जिन समयों में आर्थिक शोषण और राजनीतिक पारतंत्र्य का हम पर कब्जा रहा है। दुनियावी अत्याचारों से पीड़ित होकर जनता परलोक की ओर सुख की आशा से मुड़ी थी। यों हमारा देश पर्याप्त रूप से सांसारिक विषयों की ओर दत्तचित्त रहा है। तभी तो यह दूध की नदियों का देश कहला सका था और धन-धान्य-पूरित हुआ था। तभी तो यहाँ कला-कौशल की इतनी वृद्धि हुई कि पश्चिम में फ़ारस, फिलिस्तीन, मिस्र और रोम तक यहाँ की सौन्दर्य सामग्रियाँ खपती थीं और पूर्व में चीन, स्याम, ब्रह्मदेश और जापान तक से हमारी कला-वस्तुओं का आदान प्रदान होता था। सच पूछिए तो हमारी आर्थिक उन्नति और सुख-समृद्धि के फलस्वरूप ही हममें विलासिता आई और हमारे ऊपर दूसरे देशों के आक्रमण हुए। हमारी उन्नति के दिनों में हमारी पारलौकिक प्रवृत्तियाँ हमारे सांसारिक व्यवहारों को मृदुल भावों से भरा करती थीं। संसार के बहुरूपों में हम विश्वनियंता की एक ही आभा के दर्शन करते थे। यह धर्म का ही प्रभाव था कि हाड़ मांस की स्थूल वस्तुओं को भी हम आध्यात्मिक निगाह से देखते थे, उन्हें परमात्मा की प्रतिमूर्ति मानते थे।

धर्म के इस आदर्श स्वरूप की प्रतिष्ठा हुए विना हम कदापि अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

धर्म के इसी दिव्य प्रकाश से आज का विज्ञान ज्योतित होना चाहता है।

वैज्ञानिक संसार के एक महान् नेता सर आलिवर लाज का कथन है—'हमने जितना समझ रक्खा था उससे कहीं अधिक यह जगत् एक आध्यात्मिक सत्ता है। सच तो यह है कि हमारे इस स्थूल भौतिक जगत् को घेरे हुए एक महत्तर आध्यात्मिक जगत् है। उसकी महान् और अविनाशी सत्ता का हम (वैज्ञानिक) कुछ समय से अनुभव करने लगे हैं। उसकी विशाल शक्तियों को देख-कर हम भयभीत हो गए होते यदि हमने यह न जान लिया होता कि ये शक्तियाँ एक कृपालु वात्सल्यमयी चेतना द्वारा संचालित हैं जिन्हें हम प्रेमरूप परमात्मा कहते हैं।

महान् गणितज्ञ और ज्योतिर्विद् सर जेम्स जीन्स जो वर्षों ग्रेट ब्रिटेन की रायल सोसाइटी के मंत्री रहे हैं, कहते हैं—'संसार अब एक बड़ी मसीन की तरह नहीं बल्कि एक विराट् विचार की भाँति जान पड़ता है। वस्तुओं की सत्ता इसलिए प्रतीत होती है कि वे हमारे मन में स्थित हैं। मनस्तत्त्व अब इस भौतिक जगत् में एक संयोगसिद्ध वस्तु की भाँति नहीं रहा। हम ऐसा समझने लगे हैं कि उसे इस जगत् का स्रष्टा और शासक स्वरूप मानना चाहिए। मनस्तत्त्व से मेरा आशय व्यष्टि मन से नहीं उस समष्टि मानस से है जिसके परमाणुओं से व्यक्तिगत मनों का विकास हुआ है और जो परमाणु 'विचार' रूप से स्थित हैं।

'ग्रेट डिजाइन' नामक संग्रह पुस्तक में, जो श्री एफ़० मेसन द्वारा संपादित है, संसार के चौदह प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने जीवन भर की अपनी खोजों के आधार पर अपने अनुभव छोटे-छोटे लेखों में लिखे हैं। वे सभी इस विषय में एकमत हैं कि यह जगत् कोई निर्जीव यंत्र नहीं है, न इसकी सृष्टि किसी संयोग से हो गई है। भौतिक जगत्

के तह में एक चेतन मस्तिष्क है, उसे हम चाहे जिस नाम से पुकारें।

संसार प्रसिद्ध गणितज्ञ एलबर्ट आइन्सटीन जिन्होंने सापेक्षवाद का सिद्धान्त निकाला है, कहते हैं "मैं ईश्वर पर विश्वास करता हूँ....जो इस विश्व की सुनियमित व्यवस्था के रूप में प्रकट हो रहा है। मेरा विश्वास है कि समस्त प्रकृति में विवेक या ज्ञान का सर्वत्र प्रसार है। वैज्ञानिक क्रियाकलाप इसी विश्वास के आधार पर स्थित है कि संसार एक नियमित और विवेकगम्य रचना है, केवल संयोगसिद्ध सृष्टि नहीं।"

सर आर्थर एस० एडिंगटन, प्रख्यात अँग्रेज़ वैज्ञानिक, लिखते हैं—'पुराना नास्तिकवाद अब नहीं रहा। धर्म अब आध्यात्मिक और मानसिक क्षेत्र की वस्तु सिद्ध हो चुका है। उसे कोई अपने स्थान से हटा नहीं सकता।'

वर्तमान युग के इन अग्रगण्य वैज्ञानिकों की जो सम्मतियाँ ऊपर उद्धृत हैं उनसे स्पष्ट है कि विज्ञान और धर्म में कोई विरोध नहीं रह गया और साधारण जनता में अथच थोड़े पढ़े-लिखों में इन दोनों के विरोध की जो धारणा फैली हुई है वह भ्रान्त और निराधार है।

एकता में संदेह
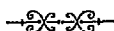
धर्मों की एकता के संबंध में कई दृष्टियों से संदेह किया जाता है। कुछ लोग इस आधार पर संदेह करते हैं कि दुनियाँ के भिन्न-भिन्न धर्म अलग-अलग समयों में उत्पन्न हुए थे। यदि धर्म एक ही होता तो एक के बाद दूसरे धर्म के जन्म लेने की आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु जिसे हम नये धर्म का जन्म लेना समझते हैं वह वास्तव में एक ही नित्य धर्म का नया विज्ञापन है, किसी असाधारण व्यक्तित्व के द्वारा उसका नया प्रचार अथवा नूतन संजीवन है। एक ही सारभूत, शाश्वत और विश्वव्यापी धर्म की नये शब्दों में, नये उत्साह के साथ की गई घोषणा है। वास्तव में धर्म नया नहीं है, धर्म सनातन है। उसका नये सिरे से एलान इसलिए आवश्यक हो जाता है कि पुराना एलान भूलने लगता है; बहुत सी बाहरी और अल्प आवश्यक, निर्जीव और भ्रामक रूढ़ियों के पर्दे पड़ जाते हैं जिनसे धर्म का सारतत्त्व आँखों की ओट हो जाता है। उसको फिर से प्रकाशित करने की आवश्यकता आ पड़ती है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि सब धर्मों में कुछ तो एकता का अंश होता है, किन्तु कुछ अनैक्य या विभेद का अंश भी हुआ करता है। जब हम एकता को सामने रख रहे हैं तब सूक्ष्म विभेदों को भी क्यों न उपस्थित करें। यह बात पांडित्य की दृष्टि से ठीक हो सकती

है। धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले पंडित लोग इस कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं। किन्तु मेरा निवेदन यह है कि मनुष्य-समाज इन विभेदक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप बहुत हानि उठा चुका है। ऐसी प्रवृत्तियों की अति हो चुकी है। फिर, पांडित्य की दृष्टि से भी जो विभेद की बातें ढूँढ़ी जाती हैं वे ऊपरी और अल्प आवश्यक हैं। वे सारभूत नहीं हैं। इसलिए हमें सारभूत ऐक्य की ओर ही ध्यान देना चाहिए। लोकहित की दृष्टि से यह अत्यावश्यक है।

एक दूसरे वर्ग के आलोचक वे हैं जो अपने विशेष धर्म अथवा संप्रदाय को ही बेजोड़ और सर्वोत्तम मानते हैं। वे अपने धर्म पर दृढ़ विश्वास और अडिग आस्था रखनेवाले होते हैं। अपने को मौलिक, प्रथम और अप्रतिम मानने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। सभी क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। धार्मिक क्षेत्र में भी यह दिखाई देती है। लोग समझते हैं कि "हमारा मत ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वथा मौलिक है। वह अन्य सब मतों से भिन्न है। एकदम नवीन है। ऐसा मत कभी इसके पूर्व था ही नहीं, न इसके पश्चात् कभी होगा। इससे अच्छा तो क्या इसकी बराबरी का भी कोई मत संसार में नहीं है।" इस प्रकार का संकीर्ण अहंकार बहुत ही घातक है किन्तु यह तब तक दूर नहीं हो पाता जब तक इसके घातक परिणाम अनुभव में नहीं आ जाते।

कौन कह सकता है कि हमारा यह भौतिक शरीर बिल्कुल नये उपकरण से बना है, वह किसी पूर्वतर वस्तु का परिणाम नहीं है! उसमें किसी दूसरी वस्तु का, जो पहले से विद्यमान थी, मिश्रण नहीं है! यह तो प्रत्यक्ष ही है कि प्रत्येक शरीर में लगे हुए अणु-परमाणु इसके पहले असंख्य पिंडों से होकर गुज़र चुके हैं। और आगे असंख्यों शरीरों से होकर गुजरेंगे। यद्यपि यह सच है कि किसी भी

शरीर की आकृति किसी दूसरे शरीर से पूर्णतः समान नहीं होती, किन्तु अणु-परमाणु तो प्रत्येक शरीर में वही हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विचार, भाव अथवा इच्छा जो एक मन में उत्पन्न होती है, असंख्यों मनों में इसके पूर्व उत्पन्न हो चुकी होती है और असंख्यों मनों में आगे उत्पन्न होंगी। यद्यपि यहाँ भी उनके संग्रथन में कुछ-न-कुछ अंतर होता ही है, जिस प्रकार शरीरों में अंतर हुआ करता है। यही विभेद व्यक्तित्व कहलाता है। हम इस विभेद या व्यक्तित्व को अस्वीकार नहीं करते, किन्तु हम उसे ही प्रधानता नहीं दे सकते। वह परिवर्तनशील, अस्थायी और अल्पावश्यक वस्तु है। किन्तु जो उपादान ऐक्य के हैं वे व्यापक हैं और अधिक स्थायी तथा महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें ही हमें प्रधानता देनी होगी।

धर्मों की एकता स्थापित करते हुए यदि लोगों की कोमल भावना पर आघात करने से हम बचना चाहते हैं तो हमें किसी एक धर्म को दूसरे धर्म से निकला हुआ सिद्ध करने के फेर में नहीं पड़ना होगा। साधारण जनसमाज का इसमें कोई हित नहीं है। जो विद्वान् तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मों का अध्ययन करना चाहें वे कर सकते हैं। इससे उनका दिलबहलाव हो सकता है और मानव-समाज के आध्यात्मिक विकास-संबंधी वैज्ञानिक साहित्य भी प्रस्तुत हो सकता है। किन्तु हमें जनता की भलाई की दृष्टि से वाद-विवाद के विषयों से बचना होगा।

साथ ही, यदि धर्मों की परंपरा का अनुसंधान बारीकी के साथ और परिश्रमपूर्वक किया जाय और हम अनुसंधान का काम निष्पक्ष होकर करें तो इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि धर्म के आरंभ का कोई एक स्थान या केन्द्र नहीं है। उसकी परंपरा अज्ञात

अतीत में विलीन हो गई है। तो फिर हम जन-साधारण के बंधुभाव और शान्ति की वृद्धि के लिए यही क्यों न कहें—जो कि सर्वथा सत्य भी है—कि समस्त अणु-परमाणु, सारा दृश्य और अदृश्य द्रव्य तथा सभी धर्म एक ही सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी आत्मा से उत्पन्न हुए हैं। उसी एक चेतन तत्त्व में समस्त जगत् के पदार्थ, जिनमें धर्म भी एक है, जन्म लेते, गतिशील होते और जीवन धारण करते हैं।

कुछ लोग धर्म की व्याख्या उस व्यक्तिविशेष के मानसिक संघटन के आधार पर करते हैं जिसने उस धर्म का आरंभ किया होता है। साथ ही देश और काल की परिस्थिति, आर्थिक, भौगोलिक और जलवायु-संबंधी विशेषताओं के आधार पर भी उस विशेष धर्म का निरूपण करते हैं। ये व्याख्यायें और निरूपण उन विशेष धर्मों की व्यक्तिगत विशेषताओं को जानने में भले ही सहायक हों, किन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं, ये व्यक्तिगत विशेषताएँ गौण हैं। धर्म का सार तत्त्व उनमें नहीं है और न उनकी व्याख्या से धर्म के वास्तविक सार अंश का पता लग सकता है।

धर्म के सार तत्त्व को समझने के लिए—धर्म ही क्या दर्शन, विज्ञान किसी भी विषय का सार तत्त्व समझने के लिए आवश्यक है। उस एक अखंड, अव्यय, व्यापक चेतन तत्त्व को जानना जिससे ये समस्त विषय उत्पन्न हुए और जिसमें लय होते हैं। उस एक तक पहुँचने पर समस्त प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है, सारी शंकाएँ समाहित हो जाती हैं। अंतिम और उच्चतम समन्वय उपलब्ध हो जाता है और चिर शान्ति में मन स्थिर हो जाता है।

एकता का आनन्द
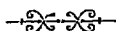
यदि एक ओर कुछ लोग धर्मों के विभेदों की ओर मुख्यतः ध्यान रखते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो धर्मों की एकता का अनुसंधान और अन्वेषण करने तथा उस ऐक्य को हृदय में जुगो रखने में ही आनन्द मानते हैं और धार्मिक विभेद की चर्चा से दुःखी होते हैं।

ख़ुशतरां बाशद के सिर्रे दिलबरां।
गुफ़्तः आयद दर हदीसे दीगरां॥

दिलवर (प्रियतम) की गुप्त प्रेम की बातें दूसरों के मुँह सुनने में कितना आनन्द है ! जब उसकी (प्रियतम की) प्रशंसा दूसरे करते हैं तब कितना सुख मिलता है !

इति नाना प्रसंख्यानां तत्त्वानां कविभिः कृतम्।
सर्वं न्यायं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमसाम्प्रतम्॥

कवियों ने अनेक कथाओं द्वारा एक ही तत्त्व की व्याख्या की है। वे सभी सत्य हैं; उनमें कोई विरोध नहीं है। समझदारों के लिए इसे समझना बड़ा आसान है।

सुंदर-से-सुंदर व्यक्ति भी विना आईने के अपनी सुंदरता नहीं

देख सकता। सूफ़ी कहते हैं, ईश्वर को अपना रूप अदम (असत् अथवा शून्य) के आईने में देखना पड़ा, तभी वे अपने में निहित अशेष सौन्दर्य की छवि देख पाए । 'ऐनियती हक़ीक़ी' अद्वैतसत्ता अथवा आत्मा की एकता की झलक 'ग़ैरियती-एतबारी', इतराभास, द्वैत-मिथ्यात्व अथवा माया के पर्दे पर ही दिखाई देती है।

दर आईना गर्चे ख़ुदनुमाई बाशद।
पैवस्तः ज़े ख़्वेशतन जुदाई बाशद॥
ख़ुद रा बलिबासे ग़ैर दीदन अजब अस्त।

शून्य के आईने में वह अपनी शक्ल देखता है । किन्तु (इसी कारण) अब उस (आत्मा) में एक जुदाई देख पड़ती है । क्या आश्चर्य है कि ख़ुद वह दूसरे लिबास में दिखाई देता है । उसे छोड़ कर दूसरा कौन है जो यह चमत्कार दिखा सके !

भगवान् की क्रीड़ा, लैव या लौ अपने और अपने इसी प्रतिबिंब या प्रतिच्छवि के बीच हुआ करती है। इसी क्रीड़ा को इश्क़बाज़ी, रासलीला आदि कहते हैं।

हम अपने मस्तिष्क में उठनेवाले विचारों की पूरी यथार्थता तब तक नहीं समझ पाते जब तक वे हमारे ही मस्तिष्क में रहते हैं, दूसरों के मस्तिष्क में प्रतिफलित नहीं होते। यही कारण है कि वक्ताओं की इच्छा होती है कि दूसरे उन्हें सुनें, लेखकों की इच्छा होती है कि दूसरे उन्हें पढ़ें, कलाविदों की इच्छा होती है कि उनकी कृतियों की दूसरे क़द्र करें।

दो भिन्न देशों और संस्कृतियों में पले हुए मित्र जब एक-दूसरे के गुणों और संस्कारों को पहचानते और उन पर मुग्ध होते हैं तब

जितना आनन्द आता है उतना आनन्द एक ही देश और संस्कृति में पले हुए मित्रों की गुणग्राहकता देखकर नहीं आता।

"यदि एक ही पोशाक पहने हुए मित्र को हमने पहचाना तो क्या पहचाना! यह मित्र को नहीं बल्कि यह तो पोशाक को पहचानना है। प्रियतम, मैं तुम्हें अनेक पोशाकें पहनाऊँगा और तब तुम्हें पहचानूँगा। सब पोशाकों में तुम्हें ही देखूँगा।"

"प्यारे, क्या पोशाकें बदल देने से, तुम आईने के सामने अपने आप को पहचान नहीं सकोगे!" (अवश्य पहचान सकोगे)

"हे प्रिय, तुम अपनी आवाज़ और आवाज़ का अर्थ तो पहचान ही लोगे, चाहे तुम बोलो संस्कृत में या अरबी में, हीब्रू, यूनानी या लतीनी में; जापानी, जेण्ड या पाली में; प्राकृत में, गुरुमुखी में या उन सहस्रों भाषाओं में से किसी एक में जिनकी रचना भी तुम्हीं ने अपने मनोविनोद के लिए की है।"

"बर्तन, भाँड़े बहुत से और अनेक आकारों के हैं, किन्तु उनमें भरा जल एक ही है। दीपक बहुतेरे हैं, प्रकाश एक ही है। लकड़ियाँ बहुत तरह की हैं, अग्नि एक ही है। जीव बहुत प्रकार के हैं, जीवन एक ही है। वैसे ही धर्म अनेक हैं, किन्तु उनका तत्त्व एक ही है।"

चीन में जब अपरिचित लोग आपस में मिलते हैं तब पहला प्रश्न वे यह करते हैं—"आप किस महान् धर्म के अनुयायी हैं?" उनमें कोई कनफूशियन होता, कोई टाओ और कोई बौद्ध। तब वे सब मिल-कर एक स्वर से यह विज्ञापित करते हैं 'धर्म बहुत से हैं, किन्तु ज्ञान एक है और हम सब भाई भाई हैं।'

इसे सुनकर कुछ लोग उन्हें कपटी और झूठा कहेंगे, किन्तु जो विवेकवान् हैं, और जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश थोड़ी ही होगी, कहेंगे 'क्या ही सुंदर बात कही है।'

जिन दिनों जापान के पुराने शिंटोमत और नये आये हुए कनफूशियन और बौद्धमतों के प्रचारक (पादरी) आपस में लड़ रहे थे, वहाँ के सुप्रसिद्ध संतसम्राट् शोटोकू ने कहा था—शिएटोमत धर्मतरु (धर्ममार्ग) की बुनियाद और जड़ है, वह मूल मार्ग है। कनफूशियनमत धर्मतरु की डाल और पत्ते हैं, यह मध्य का प्रशस्त मार्ग है। बौद्धमत उसी धर्मतरु के फूल और फल हैं, वह गंतव्य को पहुँचानेवाला मार्ग है।

किस उत्तम रीति से उन्होंने तीनों धर्मों की मर्यादा बढ़ाई और तीनों का एका सिद्ध किया। धर्मों की एकता स्थापित करने का यही श्रेष्ठ उपाय है और यही मनुष्यता का परमोच्च लक्ष्य है।

तफ़क़ा दर नफ़्से हैवानी बुवद।
रूहे वाहिद रूहे इन्सानी बुवद॥

भेदभाव फैलाना पशु-प्रकृति है और एकता की प्रतिष्ठा करना इन्सानियत (मनुष्यत्व) है।

धर्म शब्द समानार्थी है
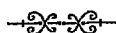
धर्म और उसके पर्यायवाची शब्द जो अनेक भाषाओं में प्रच-लित हैं, एक ही अर्थ रखते हैं। ख्रीष्टीय धर्मावलंबी पश्चिमी देशों में धर्म के लिए 'रिलीजन' शब्द व्यवहार में आता है। यह शब्द लातीनी भाषा का है। इसमें 'रिलीजन' शब्द का अर्थ होता है 'फिर से बाँधना या संबंध जोड़ना।' इसका आशय है उस वस्तु से जो मनुष्यों में प्रेम और मिलन का संबंध जोड़ती और आपस के अधिकारों और कर्तव्यों का निरूपण करती है; साथ ही जो सबको एक ईश्वर से मिलाती है, उस विश्वात्मा से ला बाँधती है, जिससे मनुष्य की अधोमुखी प्रकृति दूर जा पड़ी है—सांसारिक पदार्थों के पीछे भटक गई है। यह चरम एकत्व का सूत्र है जिसमें बँधकर मनुष्य अपने दैनिक कर्तव्य को अत्यन्त सुचारु रूप से पालन कर सकता है। जो शक्ति मनुष्य-मनुष्य को प्रेम की डोर में बाँधती और ईश्वर की घट-घटवासिनी सत्ता से एकाकार करती है, वह ऊँची से ऊँची सभ्यता को जन्म देने और उसका विकास और पोषण करने में समर्थ है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि आज तक इतिहास में जितनी बड़ी-बड़ी सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ है सब अपना-अपना सुनिश्चित धर्म रखती थीं और अब भी रखती हैं।

वेदों में धर्म शब्द आया है और वहाँ भी इस शब्द का अर्थ है धारण करनेवाली, एक सूत्र में बाँधनेवाली वस्तु। इसका भी वही आशय है जो 'रिलीजन' शब्द का।

किसी समाज के अनेकानेक व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँध या धारण कर रखना तभी संभव है जब उन व्यक्तियों के बीच अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था हो जाय। समाज में किसी एक व्यक्ति का यदि कोई स्वत्व होता है तो किसी दूसरे व्यक्ति के स्वत्व-त्याग, यज्ञ अथवा क़ुर्बानी के आधार पर ही। इसलिए जब तक स्वत्व और स्वत्वत्याग की न्यायपूर्ण व्यवस्था समाज में नहीं की जाती तब तक उसका धारण, पोषण या विकास संभव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ व्यक्ति के कुछ अधिकार और परिग्रह हैं वहीं उसका आत्मत्याग और अपरिग्रह भी आवश्यक है।

व्यष्टि आत्मा का बृहत्तर सामूहिक आत्मा के लिये आत्म-त्याग और बृहत्तर सामूहिक आत्मा का उस लघु व्यष्टि के लिए बदले में स्वार्थत्याग, दोनों ही धर्म के अंग हैं। इस त्याग का आन्तरिक प्रेरक है उदार प्रेमभाव और इसका बाह्य निरूपक है समदर्शी विवेक और उससे बनी हुई व्यवस्था।

'इस्लाम' शब्द भी अत्यन्त उच्च और पवित्र आशय रखता है। उसे हम धर्म का सारतत्त्व भी कह सकते हैं। यह शब्द 'सल्म' मूल से बना है जिसका अर्थ होता है शान्ति। इस्लाम ईश्वर की शान्तिपूर्ण स्वीकृति को कहते हैं। शान्तिपूर्ण स्वीकृति का तात्पर्य है आत्मत्याग, प्रणिधान या प्रपत्ति। अहंकार को दूर करना और सर्वात्मभाव को ग्रहण करना।

जिस प्रकार धर्म शब्द के पर्यायवाची शब्द सभी भाषाओं में

एक ही अर्थ रखते हैं उसी प्रकार मनुष्य शब्द के पर्यायवाची शब्द भी सब धर्मों में एक से ही हैं। इन्सान शब्द का अर्थ है सबका मित्र, मानवजाति का प्रेमी। इसी प्रकार संस्कृत का आर्य शब्द भी उस व्यक्ति का द्योतक है जिसके पास दुखी मनुष्य सहायता के लिए जाते हैं।

इसी प्रकार ज्ञान शब्द भी विभेदों में एकता देखने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, यथा—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

'सात्त्विक ज्ञान वह है जो सब जीवों में एक ही अविनाशी भाव देखता है और विभेदों में अविभेद या एकता के दर्शन करता है।'

यह तो है धर्म का मुख्य और शाश्वत स्वरूप। इसके अतिरिक्त धर्म का गौण या परिवर्तनशील स्वरूप भी हुआ करता है। देश और काल के अनुसार धर्म की बाहरी रूपरेखा बदल सकती है। महाभारत में कहा है—

देशकालनिमित्तानां भेदैर्धर्मो विधीयते।
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः॥

देश और काल की स्थितियों से कर्तव्यों में विभेद उत्पन्न हो जाता है। शान्ति के समय मनुष्यों का एक धर्म हुआ करता है और युद्ध के समय दूसरा।

मौलाना जलालुद्दीन रूमी, जिनकी मसनवी क़ुरान से कुछ ही कम पवित्र और आदरणीय मानी जाती है, अस्ल और फ़ुरु-प्रधान और गौण-धर्म का निरूपण कर गए हैं। सूफ़ियों का मुख्य निरू-

पथ है बाहरी उपचारों का तिरस्कार और घट-घटव्यापी सत्ता का प्रेम द्वारा अनुभव। वे कहते हैं—

मग़्ज़े क़ुरां मग़्ज़ रा बरदाश्तम्।
उस्तुख़्वां पेशे सगां अंदाख़्तम् ॥

अर्थात् क़ुरान से मग़्ज़ या सारसत्ता मैंने खींच ली है और सूखी हड्डियाँ कुत्तों के लिए छोड़ दी हैं।

महात्मा यीसू ख़ीष्ट ने भी ईश्वर की विश्वव्यापिनी सत्ता के उपदेश को ही प्रधान धर्म माना है और जो इस ऊँची आध्यात्मिक भूमि पर नहीं पहुँच सके हैं उनकी तुलना उन मूर्खों से की है जो रत्नों का मूल्य आँकना नहीं जानते (साक बनिक मनि गुन गन जैसे—तुलसीदास)।

जो आत्मा की एकता के ज्ञान को—प्रधान धर्म को—छोड़कर बाहरी उपचारों और रीतियों में बँधे हुए हैं उन्हें श्रीकृष्ण ने भी गीता में फटकारा है—

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।

अर्थात् 'जो वैदिक कर्मकाण्डों (यज्ञ आदिकों) की प्रशंसा करने में लगे हुए हैं और यह कहते हैं कि इनके अतिरिक्त धर्म और कुछ नहीं है, वे मूर्ख हैं।'

ऊपर धर्म के प्रधान स्वरूप के संबंध में जो कुछ कहा गया उसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य के लिए एकबारगी ही उस ऊँचे स्वरूप तक पहुँच जाना संभव है। इसी लिए धार्मिक साधना की सीढ़ियाँ हुआ करती हैं। अधिकारियों में भेद हुआ करते हैं। जो जिस सीढ़ी पर है उसे उसी के अनुरूप धर्म की शिक्षा दी जायगी। ईश्वर के

अखंड, अव्यय स्वरूप को, 'नूरे-क़ाहिर या दिव्य प्रकाश' को मूसा और मुहम्मद भी देखकर चकाचौंध हो गए थे। फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है। स्वयं अर्जुन भगवान् के 'सहस्रसूर्य-समप्रभ' रूप को देखकर भयभीत हो गए थे।

धर्म की उच्चतम अनुभूति क्रम-क्रम से ही प्राप्त होती है। आहिस्ता-आहिस्ता रास्ता तय करना होता है। किन्तु धर्म का उच्चतम स्वरूप है वही—सर्वव्यापक आत्मा को जान लेना—इसमें संदेह नहीं। कहा भी है—

बालक-आत्माएँ काष्ठ (काठ) में और प्रस्तर (पत्थर) में अपने देवता ढूँढ़ती हैं, उनसे बड़ी आत्माएँ जलाशयों में अपने देवता देखती हैं। और ऊँची आत्माएँ आकाशस्थ देवताओं के दर्शन करती हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी घट-घटवासी आत्मरूप देवता को ही जानते हैं।

धर्म के तीन स्वरूप
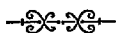
मनुष्य की प्रकृति में ज्ञान, इच्छा, क्रिया—इल्म, ख्वाहिश, फ़ेल—उर्फ़, इरादा, अमल—के तीन अंग हुआ करते हैं। संपूर्ण मनुष्य-जीवन इन्हीं तीन प्रवृत्तियों का—वे चेतन दशा में हों अथवा अंतर्चेतन दशा में—चिर चक्र है।

इसी कारण मानव-सभ्यता भी इन्हीं तीन विशेषताओं के भंडार से बनती है। प्रथम—ज्ञान, विज्ञान और पाण्डित्य ; द्वितीय—आदर्श, लक्ष्य और रुचि ; तृतीय—जीवन, व्यवहार और उद्योग। हमारा ज्ञान-भंडार जितना ही विस्तृत होगा ; हमारी इच्छा, भावना अथवा आदर्श के द्योतक कला-कौशल जितने ही समृद्ध होंगे; हमारे उद्योग और अध्यवसाय जितने उदार और लोकहितकर होंगे उतनी ही हमारी सभ्यता समुन्नत कही जायगी।

इसीलिए धर्म का संबंध भी इन तीनों ही क्षेत्रों से है। उसके तीन स्वरूप हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। हमारी सभ्यता का जो संचित भंडार है, ज्ञान, इच्छा और क्रिया की जो बहुविध उत्पत्तियाँ हैं उनमें से (हिन्दू) सर्वोत्तम ज्ञान, भावना और क्रिया को ही धार्मिक ग्रंथों में ज्ञान, भक्ति और कर्म—हक़ीक़त, इबादत और शरायित (इस्लाम)—नोसीस, पाइटस और इनर्जिआ (ख्रीष्टीय), सम्यक् दृष्टि सम्यक् संकल्प और सम्यक् व्यायाम (बौद्ध) अथवा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य (जैन) कहते हैं।

द्वितीय अध्याय

ज्ञानमार्ग

ईश्वर, जीव, प्रकृति
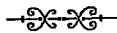
ज्ञानमार्ग का सबसे बड़ा सिद्धान्त यह है कि सत्य एक है। वही ब्रह्म या ईश्वर कहाता है। शेष सब असत्य है। ज्ञान, भावना और क्रिया में जो कुछ सत्य और उचित है वह उसी ब्रह्म से संपर्कित है।

जीव भी तत्त्वतः ब्रह्म ही है। इसे जान लेना ही ज्ञान है। प्रकृति या जगत् भी ब्रह्म की ही प्रकृति है। उस नित्य सत्ता की क्षण-क्षण बदलनेवाली पोशाक है।

जीवन का लक्ष्य क्या है? जीवन का लक्ष्य है उस एक को पा लेना, जिस एक ने अपने को सबमें छिपा रक्खा है। ईश्वर ने जीवमात्र में, मनुष्यमात्र में अपने को भुला दिया है। जीवों का, मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे जीवमात्र में भूले हुए, खोए हुए ईश्वर को पहचान लें, ढूँढ़ लें।

आत्मा ने क्रमशः अधिक-अधिक गाढ़ा और घना पर्दा अपने ऊपर डाल रक्खा है। प्रवृत्तिमार्ग में, इन्द्रिय-विषयों की ओर बढ़ते हुए, उतरते हुए, क़ौसे नज़ूल के रास्ते पर बहुत दूर तक वह

उतर आया है। उसे अब निवृत्तिमार्ग में, आरोह की ओर, क़ौसे उरूज की दिशा में बढ़ना होगा, ऊपर उठना होगा। अल्लाह ने, जो विश्वव्यापी आत्मा है, अपने को समस्त जीवों में बाँट दिया है, उसने माया का, असत्त्व का, गैरियते एतबारी का जामा पहन रक्खा है। उसे इन जीवरूप टुकड़ों के भीतर अटूट, अखंड तत्त्व के रूप में वापस पाना है। माया के पर्दे को उघारकर देखना है।

उसका (आत्मा का अपना) असली रूप क्या है, इसे सूफ़ियों ने सुंदर ढंग से बताया है—

न कोई पर्दा है उसके दर पर।
न रूये रोशन नक़ाब में है॥
तू आप अपनी ख़ुदी से ऐ दिल।
हिजाब में है हिजाब में है॥

उसके राजमहल के द्वार पर कोई रोक नहीं है। उसके प्रकाश-पूर्ण मुखमंडल पर किसी प्रकार का पर्दा नहीं है। हे दिल, तू अपने अहं (ख़ुदी या स्वार्थ) से बँधा हुआ है इसीलिए उसे देख नहीं पाता, उस तक पहुँच नहीं पाता और घोर अंधकार में पड़ा हुआ है।

लौत्से ने कहा है—उस नित्य-वस्तु को जानना ही ज्ञान है। उसे बिना जाने ही जीव विषय-वासना में फँसता है। यही पाप है।

श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हज़ारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए, मुझको जानने के

लिए प्रयत्न करता है। और प्रयत्न करनेवाले हज़ारों में से कोई एक मुझे ठीक-ठीक जान पाता है।

यदि कोई चाहे कि वह दुनिया में अपना स्वार्थ साधन भी करे और ईश्वर को भी प्राप्त कर ले तो यह असंभव है।

हम ख़ुदा ख़्वाही व हम दुन्या-ए-दूँ।
ईं ख़यालस्तो महालस्तो जुनूँ॥

हम दुनिया की भी ख़्वाहिश करते हैं, सांसारिक सुख भी चाहते हैं और ख़ुदा को भी पाने की आशा करते हैं। यह हमारी ख़ामख़्याली है, पागलपन है।

संसारवासनायुक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
तदेव वासनात्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥

जो मन संसार की वासना से युक्त है उसे ही पंडित लोग बँधा हुआ कहते हैं। उसी मन ने जब वासनाओं का त्याग कर दिया तब मुक्त कहलाने लगा।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर की खोज करनेवाले को सुख मिलते ही नहीं। यदि एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की खोज ही हो तो मनुष्य को दूसरी किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। बाइबल में कहा गया है—

If you attain to God and His Kingdom of righteousness, all things else shall be added unto you.

अर्थात् 'यदि तुमने ईश्वर को और उसके स्वर्गीय राज्य को पा लिया है तो शेष सब वस्तुएँ तुम्हें आप-ही-आप मिल जायँगी।'

'एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत्।'

'उसे (परम तत्त्व को) जानकर फिर वह ज्ञानी जो कुछ इच्छा करता है वह पूरी होती है।' सूफ़ियों ने इसे और भी सुंदर रीति से कहा है—

ख़ुदा को पाया तो क्या न पाया,
सभी मिला जो मिला ख़ुदा है।
ज़रा तू सोचे कभी भी ख़ालिक़
से उसकी ख़िलक़त हुई जुदा है!
सभी तो मैं हूँ सभी तो मेरा,
हमेशा आती यही निदा है।
तुही है ख़ालिक़ तुझी में ख़िलक़त,
ख़याले ख़ायल तुही ख़ुदा है।

प्रथम पुरुष या अन्य पुरुष
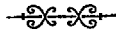
उस परमसत्ता, परमात्मा को 'मैं' कहें या 'वह' इसके संबंध में मतभेद है। ज्ञानमार्गियों का, वेदान्तियों का और सूफ़ियों का आग्रह 'मैं' के लिए है। बाइब्ल में भी स्थान-स्थान पर 'मैं' के पक्ष में वाक्य मिलते हैं। क़ुरान का सुप्रसिद्ध कलमा या महावाक्य तृतीय पुरुष में है—

ला इलाहाइल्लाह (अल्लाह को छोड़कर दूसरा कोई देवता नहीं), किन्तु सूफ़ी कहते हैं कि यह कलमा उन छोटे साधकों के लिए है जो अंदरूनी ज्ञान के लिए तैयार नहीं हैं। अस्ली कलमा तो यह है—

व मा अरसलना मिन क़ब्लिका मिर
रसूलिन इल्ला नूहि इलैहे अन्नहू
इन्नी अनल्लाहो ला इलाहः इल्ला अना।

"जब कभी और जितने भी रसूल, पैग़म्बर या संदेशवाहक 'मैं' ने (परमात्मा ने) भेजे हैं, केवल इस अभिप्राय से भेजे हैं कि 'मेरा' (परमात्मा का) ही अनुसरण करने की शिक्षा दें। मैं ही (आत्मा ही) ईश्वर हूँ। परम आत्मा (मैं) के सिवा कोई दूसरा ईश्वर नहीं।"

भागवत में भी इसी प्रकार कहा है—

अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुद्ध्यध्वमंजसा।

अच्छी तरह समझ लो कि जो कुछ है 'मैं' ही है। 'मैं' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। गीता में श्रीकृष्ण ने 'मैं' का बड़े ज़ोरों से आग्रह किया है—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतमं मया।
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

"यह मैंने गूढ़ से भी गूढ़ ज्ञान तुझे बताया। अब तू सबसे अधिक गूढ़ ज्ञान मेरी परमवाणी को सुन। मुझ (मैं) में मन लगा, 'मैं' का (मेरा) भक्त बन, 'मैं' का (मेरा) यज्ञ कर, 'मैं' को (मुझे) प्रणाम कर। तब तू 'मैं' को (मुझे) प्राप्त होगा, यह मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। तू मेरा प्रिय है। सब धर्मों को छोड़कर 'मैं' की (मेरी) शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।"

सभी अवतारों, रसूलों, मसीहाओं, नबियों, ऋषियों आदि ने 'मैं' की भाषा ही व्यवहार की है। 'मैं' का ही आग्रह किया है।

इल्मे सिना या अंदरूनी ज्ञान की यही भाषा है। पराविद्या, रहस्य, गुह्य, आध्यात्मिक तत्त्व यही है। सर्वोच्च साधकों, संन्यासियों, दरवेशों, दीक्षितों, मिस्कीनों के लिए 'मैं' का ही उपदेश है। जो इस ऊँचाई पर नहीं पहुँचे उन उपासकों, गृहस्थों, श्रावकों आदि के लिए दूसरा उपदेश है।

उपनिषद् में कहा है—

अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षं ज्ञानमेव तत्।
अस्मि ब्रह्मेति चेद् वेद अपरोक्षं तदुच्यते॥

अर्थात् यदि कोई कहता है कि 'ब्रह्म है' तब निश्चय ब्रह्म के और उसके बीच एक पर्दा है। किन्तु यदि कोई कहता है कि 'ब्रह्म हूँ' तब निश्चय ही पर्दा हट चुका।

सूफ़ियों का कथन और भी लासानी है—

ग़ायब जो हो ख़ुदा से आलम है उसको हू का।
अनानियत है जिसमें मौक़ा नहीं हैं तू का।
ज़ाहिदे गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूँ।
वह कहे अल्लाह है औ मैं कहूँ अल्लाह हूँ।

अर्थात् 'जो ख़ुदा से दूर है वही कह सकता है 'ख़ुदा है'। किन्तु जो अपने में उस प्यारे को पा चुका है वह अपने से अलग किसे संबोधित करे! उसे 'तू' कहने का मौक़ा कहाँ है!'

'मैं राह भूले हुए के साथ किस तरह चलूँ। वह तो कहता है 'अल्लाह है' पर मैं तो अल्लाह को अपने आप में पाकर कहना चाहता हूँ, 'अल्लाह हूँ।'

सूफ़ियों के सुप्रसिद्ध वाक्य 'अनलहक़' 'हक़तुई' 'क़लबुलइन्सान' 'बैतुर्रहमान', उपनिषद् वाक्यों से बिलकुल मिलते जुलते हैं—'अहं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'एष मे आत्मा अंतर्हृदये' 'हृदि अयं तस्माद् हृदयम्'।

बाइब्ल में भी कहा है—You are the temple of God. अर्थात् 'तुम भगवान् के निवासगृह हो।' खीष्ट का वचन है—मैं और मेरे पिता एक हैं। एक और उद्धरण बाइब्ल में इस प्रकार है—

He is not far from every one of us. for in Him we live and have our being.... We are the offspring of God... the spirit of God dwelleth in you... God is one... His spirit in the inner man. One God and Father of all who is above all and through all and in you all.

अर्थात् 'वह हमसे दूर नहीं है। हम उसी में रहते और उसी से जीवन धारण करते हैं, हम उसके पुत्र हैं। हृदय में उसका निवास है। वह एक है, मनुष्य के हृदय में विराजमान है। वह परमपिता है, वह सर्वपर, सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है।'

एक, अंतर्यामी
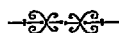
ऐ क़ौमे ब हज रफ़्तह कुजा एद कुजा एद।
माशूक़ हमीं जास्त बिआयेद बिआयेद।
माशूक़े तो हमसाय ओ दीवार ब दीवार।
दर बादियह सरगश्तह चरा एद चरा एद।
आनाँ के तलबगारे ख़ुदा एद ख़ुदा एद।
हाजत बतलब नीस्त शुमा एद शुमा एद।
चीज़े के नगरदीद गुम अज़ बहर चे जो एद।
कस ग़ैरे शुमा नीस्त कुजा एद कुजा एद॥

—शम्स तब्रेज़

"ओ तीर्थ के यात्रियो, कहाँ जा रहे हो, कहाँ जाओगे ? लौटो, लौटो, माशूक़ तो यहीं है। उसी की उपस्थिति से तो तुम्हारा पड़ोस कृतार्थ हो रहा है। बेकार जंगलों में क्यों भटकते हो। उसे ढूँढ़ते भी कहाँ हो, वह तुम्हीं तो हो। तुम वही तो हो। जो चीज़ कभी खोई नहीं, उसका ढूँढ़ना क्या ? वह कहीं खोया नहीं। तुम्हारे सिवा और कुछ है ही नहीं। संदेह दूर करो। ढूँढ़ना बंद करो।"

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम्॥

—शिवपुराण

योगीजन परमेश्वर को अपने आपमें देखते हैं, प्रतिमा में नहीं। जिन्हें अपने में स्थित परमात्मा नहीं देख पड़ता वे ही तीर्थों में उसकी तलाश किया करते हैं।

सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यंतरे स्थितः।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः॥

—योगवाशिष्ठ

समस्त जीवों के हृदयों में विष्णु (संयोजक) रूप से परमात्मा स्थित है, वहाँ छोड़कर जो उसे बाहर ढूँढ़ने जाते हैं वे नासमझ हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तमः॥

—भागवत

जो कोई जीवमात्र में परमात्मा को और परमात्मा में जीवमात्र को स्थित देखता है, वही भगवान् का सच्चा सेवक है।

हर गियाहे कि अज़ ज़मीं रोयद।
वहदहू ला शरीक लह गोयद॥

ज़मीन से निकलनेवाली घास का हर डंठल उस परमात्मा का संदेश सुनाता है—यह कि 'मैं ही वह हूँ।'

ज़रथुस्त्रीय धर्मग्रंथ भी यही कहते हैं—न एन्चीम् तेम् अन्येम् युष्मात् वएद्दा। (गाथा ३४।७)

अर्थात् 'आपको छोड़कर मैं किसी को नहीं जानता।'

वही सब-कुछ और न-कुछ
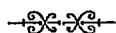
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

—गीता

हे अर्जुन, सब जीवों के अंदर रहनेवाला आत्मा मैं ही हूँ। मैं ही जीवों का आदि हूँ, मध्य हूँ और अंत भी मैं ही हूँ।

हुवल अव्वल हुवल आख़िर हुवज़्ज़ाहिर हुवल्बातिन व हुआ ब कुल्ल शयीन अलीम—क़ुरान।

'वही पहला है, अंतिम भी वही है।
वही प्रकट है अप्रकट भी वही है।
प्रभु, सबका विधाता सबका ज्ञाता।

ऐ केदर हेच जा न दारी जा।
बुल अजब मांदह अम् के हरजाई।
ब जहाँ दर हमेशा पैदाई।
ले कि दर चश्मे मन् न मी आई।

—विसाली

आप, जिनका कहीं भी स्थान नहीं (जो किसी स्थान में बँधे

नहीं) किन्तु जो सब स्थानों में हैं। दुनिया में आप हर जगह प्रकट हैं पर मेरी आँखों को कभी दीखते नहीं। आश्चर्य है।

चक्र चिह्न अरु बर्न जाति,
अरु पाँति नहिन जिहु।
रूप रंग अरु रेख भेख,
कोई कहि न सकत जिहु।
अचल मुरति अनुभव प्रकास,
अमित ओज कहीजै।
कोटि इन्द्र इन्द्रान शाह,
शाहान गनीजै।
त्रिभुवन महिप सुर नर असुर,
नेति नेति बन तृन कहत।
तव सर्ब नाम कथै कौन,
कर्म नाम बरनत सुमत।
एक मुरति अनेक दरसन,
कीन्ह रूप अनेक।
खेल खेल अखेल खेलन,
अंत को फिर एक।

—गुरु गोविंदसिंह

उसे कैसे देखें
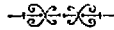
हममें जुदी का, द्वैत का, मैं और तू का भाव इतना प्रबल होता है कि वह व्यापक 'मैं' जो सबमें पैठा हुआ है हमारे अनुभव में नहीं आता। धर्म का उद्देश्य यही है कि वह उस सर्वव्यापी 'मैं' का अनुभव करावे। किसी भी वैज्ञानिक अनुसंधान की तरह यह धार्मिक अनुसंधान भी चिन्तन पर आश्रित है। हमारी उँगली और अँगूठे, हाथ, पैर, नाक, कान, स्नायु और लाखों करोड़ों जीवित अणु जिनसे मिलकर मैं बना हूँ अलग-अलग और एक दूसरे से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। किन्तु मेरा 'मैं' उन सबके भीतर प्रवर्तित है और मैं उन सबको अपना समझता हूँ।

इससे और आगे बढ़िए तो मैं का बहुवचन 'हम' आता है। एक नहीं हूँ, हम बहुत हैं। हमारा घर, हमारी संपत्ति, हमारा देश, हमारी जाति ये सब हमारे संबंध हैं।

इस एकत्व को अधिक उभारकर सामने रखने, मनुष्यों को इसका अधिकाधिक अनुभव कराने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी संकीर्णता कम हो, हमारे 'अहं' का दायरा बढ़े। दुनिया के स्वार्थों से हम ऊपर उठें। संसार के दुखी जीवों को और स्वयं अपने दुःखों को देखकर द्रवित हों, उन्हें दुःख से उबारने और स्वयं उबरने की चेष्टा करें।

जब हमारे हृदय से संकीर्ण अहंकार दूर होने लगेगा तब उसका स्थान ग्रहण करेगा परमात्मा।

जिन्हें अहंकार नहीं है—धन का, जन का, विद्या का घमंड नहीं है, ईश्वर उनके बहुत निकट है।

बाइबल में कहा है—

Except we be converted and become as little children, we shall not enter the kingdom of heaven.

अर्थात् जब तक तुम घमंड को छोड़कर बच्चों की तरह सरल नहीं हो जाते तब तक तुम्हारा प्रवेश स्वर्ग के राज्य में नहीं हो सकता।

उपनिषद् का कथन है—ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्। बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः। अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः।

अर्थात् ब्राह्मण को चाहिए कि वह अपने पांडित्य के दर्प को छोड़कर बच्चे की तरह सरल हो जाय। फिर बालकपन और पाण्डित्य दोनों को छोड़कर परमात्मा के चिन्तन में लगे। फिर चिन्तन और अचिन्तन (मौन और अमौन) दोनों को छोड़कर (दोनों से ऊपर उठकर) सच्चा ब्राह्मण (ब्रह्म में स्थित) बन जाय।

एक ही के अनेक नाम हैं
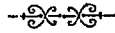
यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

जिसे शैव लोग शिव कहकर पूजते हैं और वेदान्ती ब्रह्म कहकर; तर्कपटु बौद्ध जिसकी बुद्ध कहकर उपासना करते और नैयायिक कर्ता कहकर; जैन जिसे अर्हन् के नाम से मानते हैं और मीमांसक कर्म के नाम से; वह समस्त संसार का अधिपति हमारी मनोकामना पूरी करे।

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे जनाः।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे।
एतं एके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणं अपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

कोई उसे 'कर्म' कहते हैं, कोई 'स्वभाव' कहते हैं। कुछ उसे 'काल' कहते हैं, कुछ 'काम' कहते हैं। एक उसे 'अग्नि' कहते हैं, दूसरे 'मनु' अथवा प्रजापति कहते हैं। कोई उसे 'इन्द्र', कोई 'प्राण' और कोई शाश्वत 'ब्रह्म' कहते हैं।

जरथुस्त्रीय ग्रंथों में उसे 'ब्रह्म' कहा है जो वैदिक 'ब्रह्म' का रूपान्तर है। 'अहुरा मज़दा' भी उसी का नाम है। अरबी में उसे अल्लाह कहते हैं और फ़ारसी में ख़ुदा। इस ख़ुदा से संभवतः अंग्रेज़ी का 'गाड' शब्द भी बना है।

हिब्रू भाषा में उसे 'यहोवा' कहते हैं। इसी अर्थ में अरबी के दो शब्द और आए हैं 'हय्य' और 'यहया'। सामवेद में इसी यहोवा का रूपान्तर 'ओ हौ' तथा 'ओ हौ हौ' शब्द आए हैं।

सब रूप उसी के हैं
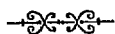
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसाः तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च।
यशोऽयशो तपो दानं मत्तः सर्वं प्रवर्तते॥

—गीता

हे धनंजय, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सब कुछ मुझमें उसी प्रकार पोया हुआ है जैसे मणिगण सूत्र में पोये होते हैं। जो सात्त्विक भाव हैं, जो राजस भाव हैं और जो तामस भाव हैं वे सबके सब मुझसे ही निकले हैं। वे मुझमें हैं, मैं उनमें (लिप्त) नहीं हूँ।

पुण्य और पाप मैं ही हूँ
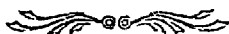
I form the light and create darkness. I make peace and create evil. I am the Lord that doeth all these things....I have created the smith that bloweth the fire of coals and bringeth forth a weapon for his work and I have created the waster to destroy.

—बाइबल

अर्थात् "मैं ही प्रकाश की रचना करता और अंधकार भी रचता हूँ। मैं ही शान्ति-स्थापक हूँ। और विद्वेष भी मैंने ही फैलाया है। यह सब कुछ (भला-बुरा) मेरा ही किया है। मैंने ही लोहार को बनाया जो धौंकनी से कोयले की आग बनाता है और अपने औज़ारों की सहायता से काम करता है (बहुत से लोहे की चीज़ें गढ़कर तैयार करता है) और फिर मैंने ही उसे भी बनाया है जो इन गढ़ी हुई चीज़ों को नष्ट करता है।"

वैदिक धर्म में ईश्वर केवल सृजक और पालक ही नहीं संहारक और नाशक भी कहा गया है। रुद्ररूप से वह नाश का कार्य करता है। इस्लाम में भी उसे अलक़हहार, अलजब्बार, अलमुज़ील, अल मुमीत (अर्थात् रौद्र, पीड़क, प्रवंचक, परीक्षक) आदि नाम दिए गए हैं।

यहाँ शंका होती है, अविश्वास उत्पन्न होता है, भ्रान्ति उठती है कि ईश्वर यदि नाशक और पीड़क भी है, पुण्य के साथ पाप भी है तो वह ईश्वर कैसा ! सच पूछिए तो संसार में होनेवाले विनाश, दुःख, दारिद्र्य और उत्पीड़न को देखकर ही ईश्वर के प्रति संदेह और

नास्तिकता उत्पन्न होती है। किन्तु जो ईश्वर सर्वव्यापक है उससे रहित दूसरी वस्तु है ही क्या! वह यदि कोमल कुसुम है तो कठोर कुलिश भी है।

हम ईश्वर के एक रूप को अपनाना और दूसरे को त्यागना चाहते हैं। सुख के भागी होना और दुःख से दूर भागना हमारा उद्देश्य है। निश्चय ही यह हमारी कमज़ोरी है। हमें तो सारे द्वैत में—सुख में, दुःख में; पाप में, पुण्य में; सर्वत्र सब रूपों में ईश्वर के दर्शन करने होंगे।

और इन सब द्वैतों से ऊपर उठकर 'उस' तक पहुँचना होगा जिसमें ये सब हैं, किन्तु जो इन सबके परे है। सच्ची आस्तिकता यही है। अविश्वास की जड़ तभी कटेगी जब हम ईश्वर को वास्तव में सर्वव्यापक समझें और समस्त द्वैतों में देखें।

परिनति सब जीवन की तीनि भाँति बरनी।
एक पाप एक पुन्य एक राग-हरनी।
जामें सुभ असुभ अंध दोऊ कर करम बंध।
बीत राग परिनति ही भवसमुद्र तरनी॥

—जैन भागचंद्र

अर्थात्, सब जीवों की तीन गतियाँ होती हैं। एक पापगति, दूसरी पुण्यगति और तीसरी पाप-पुण्य के परे राग-हरणी अर्थात् रागरहित गति। यही तीसरी गति जिसमें शुभ और अशुभ दोनों आँख मूँदकर कर्मबंधन (कर्मों का फल) मान लिए जाते हैं, वीत-राग कहाती है। यही संसारसमुद्र से पार ले जानेवाली गति है।

पुनर्जन्म और कर्मफल
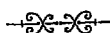
इस अध्याय के आरम्भ में हम कह चुके हैं कि ईश्वर, जीव और जगत् ये ही धर्म के मुख्य विवेचनीय विषय हैं। इनमें से ईश्वर के संबंध में हम ऊपर कई शीर्षकों से विचार कर चुके हैं, अब हम यहाँ दूसरे दोनों (जीव और जगत्) विषयों को लेंगे। सबसे पहले हम पुनर्जन्म को लेते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धांत को हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख आदि सभी धर्म अटल रूप से मानते हैं। बाइबल और क़ुरान में इस विषय का कोई स्पष्ट समर्थन नहीं मिलता किन्तु उनमें इसका विरोध भी कहीं नहीं है। सूफ़ी मत को माननेवाले प्रायः इसके समर्थक हैं।

आधुनिक विज्ञान का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है विकासवाद। इसमें अनेक योनियों को पार कर विकसित होनेवाले मानव की परंपरा दिखाई गई है। विज्ञान के क्षेत्र में जो विकासवाद का सिद्धान्त है, धर्म के क्षेत्र में उसी का प्रतिनिधिस्वरूप पुनर्जन्म का सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त के अनुसार जीव मरने के बाद दूसरा जन्म धारण करता और एक योनि से दूसरी योनि में जाता है। मानवजीवन का लक्ष्य है ईश्वर को प्राप्त करना। जब तक ईश्वरप्राप्ति नहीं होती तब तक जीव को नाना जन्म धारण करने पड़ते हैं। जब उसे ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है तब मुक्ति मिल जाती है और फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता।

पुराणों में चौरासी लाख योनियों का उल्लेख किया गया है। इनमें मनुष्ययोनि का महत्त्व सबसे अधिक है। अन्य योनियों को मुख्य चार भागों में विभक्त किया गया है।

उद्भिज्जाः स्वेदजाश्चैव अंडजाश्च जरायुजाः।
इत्येवं वर्णिताः शास्त्रे भूतग्रामाश्चतुर्विधाः॥

उद्भिज्ज (वृक्षादि), स्वेदज (कीट आदि), अंडज (पक्षी आदि) और जरायुज (पशु) ये चार प्रधान विभाग हैं। इनके उपविभागों की भी तफ़सील पुराणों में मिलती है।

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्।
कूर्माश्च नवलक्षं स्युर्दशलक्षं च पक्षिणः।
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं तु वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्।

—बृहद् विष्णुपुराण

स्थावर (वृक्ष, धातु आदि) योनियाँ बीस लाख हैं। जलचर नव लाख, कूर्म नव लाख, पक्षी दस लाख। पशु तीस लाख और वानर चार लाख हैं। इनके पश्चात् मनुष्ययोनि है।

तूर्की ग्रंथों में भी इन योनियों का विस्तृत हवाला मिलता है।

सभी धर्मग्रंथ यह कहते हैं कि मनुष्ययोनि सबसे अधिक दुर्लभ है। नीचे की चौरासी लाख योनियाँ पार कर लेने पर यह मनुष्य-योनि प्राप्त होती है। इसलिए इसका बड़ा महत्त्व है। गीताजी में कहा है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते॥

अनेक जन्मों की साधना के बाद मनुष्य को जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त होती है। बहुत से जीवन बिताकर ज्ञानी 'मुझे' प्राप्त होता है।

भिन्न-भिन्न जन्म मनुष्य को किस आधार पर प्राप्त होते हैं? धर्मग्रंथों में कहा गया है कि मनुष्य के कर्मों के आधार पर ही उसे नया जन्म प्राप्त होता है। यदि उसने अच्छे कर्म किए होते हैं तो उसे अच्छा जन्म मिलता है और यदि बुरे किए होते हैं तो बुरा। यह क्रिया और प्रतिक्रिया अथवा कार्य और कारण का वैज्ञानिक सिद्धान्त है जो इस रूप में चरितार्थ होता है।

शुभ कार्यों का शुभ परिणाम होता है और अशुभ कार्यों का अशुभ परिणाम। भगवान् साक्षी रूप से सबके कार्यों को देखते और जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल देते हैं।

शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को नये नये जन्म धारण करने पड़ते हैं। इसलिए अपना उद्धारक मनुष्य स्वयं है। गीता में कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

"अपना उद्धार आप ही करना चाहिए। अपने आपको दुःख में डालना उचित नहीं। हम अपने बंधु आप हैं (यदि सत्कर्म करें) और अपने शत्रु भी आप ही हैं (यदि कुकर्म करें)। जिसने अपने को अपने वश कर रक्खा है उसकी आत्मा उसकी बंधु है किन्तु जिसने वश में नहीं किया वह तो आप ही अपना शत्रु है।"

कौनसा कर्म शुभ है और कौनसा अशुभ तथा किस कर्म के करने से क्या गति प्राप्त होती है यह विस्तृत विषय इस छोटी-सी पुस्तक में नहीं आ सकता। स्थूल रूप से यही समझना चाहिए कि शुभ कर्म वह है जो सर्वव्यापक ईश्वर का अनुभव कराने में सहायक है। जो बाधक है वह अशुभ है। हमें पहले अशुभ को शुभ कर्मों से जीतना होगा। फिर शुभ के प्रति भी आसक्ति छोड़नी होगी, क्योंकि जब तक शुभाशुभ कर्मों से संबंध छूट नहीं जाता तब तक जन्म-मरण-चक्र से मुक्ति नहीं मिल सकती—और मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है मुक्ति।

कर्मों के करने में मनुष्य कहाँ तक स्वतंत्र है और कहाँ तक परतंत्र ? पुरुषकार और दैव, उद्योग और नियति के विवेचन में हम यहाँ नहीं पड़ सकते। ईश्वर की दया हमारे पापों को क्षमा करने में कहाँ तक साथ देती है और कहाँ तक वह न्याय के बंधन में बँधी है, यह भी हमारे लिए उतना आवश्यक प्रश्न नहीं। यहाँ तो पुनर्जन्म और कर्मानुसार फल के सिद्धान्तों की स्थूल रूप से चर्चा कर देना ही पर्याप्त है।

लोक-लोकान्तर और उसके निवासी
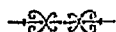
चौथा सिद्धान्त जो सब धर्मों में समान रूप से प्रचलित है, यह है कि जिस प्रकार मनुष्य की पाँच बहिरिन्द्रियों को गोचर होनेवाला भौतिक संसार है उसी प्रकार उसकी सूक्ष्मतर इन्द्रियों को प्रतीत होनेवाले दूसरे संसार या लोक-लोकान्तर भी हैं। इन्हीं लोकों से होकर मृत्यु के बाद और पुनर्जन्म के पूर्व मानवात्मा गुजरा करती है। मनुष्य से घटकर, बढ़कर और उसके समकक्ष प्राणियों का समाज उन लोकों में निवास करता है और मनुष्य विशेष प्रयत्न से शिक्षित होने पर अपनी सूक्ष्म इन्द्रियों और प्रसुप्त शक्तियों को इस प्रकार जगा सकता है कि वह उन लोकों में आ-जा सके।

आधुनिक विज्ञान भी चेतना-व्यापार के प्रसरित होने पर इस बात की संभावना स्वीकार करता है। योगसिद्धि, दिव्यशक्ति, कमाल, मोजिज़ह आदि पर सभी देशों में सब समयों में लोग विश्वास करते रहे हैं। आज विज्ञान भी 'टेलीपेथी' और 'क्लेयरवायेन्स' को स्वीकार कर चुका है।

स्वर्ग, नरक, लोक, भुवन, जन्नत, जहन्नुम, बहिश्त, दोज़ख आदि उच्चतर अथवा निम्नतर प्रदेश हैं जिनका निर्माण सूक्ष्मतर

अथवा स्थूलतर उपादानों से हुआ है। वे प्रदेश मानसिक भी हैं और बाह्य भी।

देव, उपदेव, गण, पार्षद, सिद्ध, विद्याधर, अप्सरा, गंधर्व, यक्ष आदि और राक्षस, दैत्य आदि इन विभिन्न लोकों में निवास करते हैं। फ़रिश्ता, मलायक, परी, यज़्द, इब्लिस, शैतान आदि इन्हीं के नामान्तर हैं।

इनसे भिन्न कुछ योनियाँ ऐसी हैं जो इनके बीच की सी अवस्था में होती हैं और जिनका निवास भी मनुष्यलोक और दूसरे लोकों के बीच या अद्धड़ में हुआ करता है। इन्हें प्रेत, पिशाच, आसेव आदि कहा जाता है।

इनमें से कुछ तो मनुष्यों के लिए हितकारक होते हैं किन्तु कुछ घातक भी हुआ करते हैं। जादू-टोने आदि से जिन प्रेतों को सिद्ध किया जाता है वे परिणाम में शारीरिक और मानसिक हानि ही पहुँचाते हैं।

विभिन्न धर्मों में मानवशरीर के तीन स्तर अथवा कोष माने गए हैं जो अलग-अलग लोकों से संपर्कित हैं और आपस में संबंध रखते हैं। वेदान्त में इन स्तरों को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहा गया है। जैन उन्हें औदारिक, तैजस और कर्मण शरीर कहते हैं। बौद्धों में निर्माणकाय, संभोगकाय और धर्मकाय नाम प्रचलित हैं। तसव्वुफ़ के अनुसार उन्हें नफ़्स, दिल और रूह कहा जाता है।

जिस प्रकार व्यष्टि शरीर के ये तीन विभाग हैं उसी तरह समष्टि शरीर के भी। जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में भी। समष्टि शरीर के इन विभागों को संस्कृत में वैश्वानर (अथवा विराट्),

सूत्रात्मा (अथवा हिरण्यगर्भ या प्राण) और सर्वज्ञ (ईश या अंतर्यामी) कहा गया है। सूफ़ी उन्हीं को 'जिस्मे कुल', 'रूहे कुल' और 'अक़्ले कुल' कहते हैं।

नफ़्स और रूह भी कई प्रकार के भेदों में पाए जाते हैं। शरीर अथवा जीवकोश जिस उन्नत अथवा अनुन्नत अवस्था में होगा उसी के अनुसार ये नफ़्स और रूह (आत्मा की अवस्था) भी ऊँचे और नीचे होंगे।

स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का पृथक् करना योग या सुलूक द्वारा संभव है। सूफ़ी जामी ने इनके पृथक्त्व का वर्णन भी किया है—

तो दाद बारे हर कसे,
मनमुर्दम अज़ गैरत बसे।
यक बार मीरद हर कसे,
बेचारा जामी बारहा।

"प्रियतम ने अपने दिल को सबके अर्पण कर दिया। मैं जुदाई की शर्म में मरा जा रहा हूँ। दुनिया में मनुष्य एक ही बार मरता है पर बेचारा जामी बार बार मर रहा है।"

जामी एक और स्थान पर कहता है—

एक यहूदी, एक मुसलमान और एक ईसाई सड़क पर मिले। रास्ते में चलते हुए यहूदी ने कहा—आज रात मैं हज़रत मूसा के पीछे-पीछे तूर की पहाड़ी तक पहुँचा और वहाँ हम दोनों ज्योति की तरंग में विलीन हो गए। ईसाई ने कहा—मेरा ख्रीष्ट मेरे सामने उपस्थित हुआ। और अंत में मुसलमान बोला—मित्रो, मुझे तो मेरा मालिक पैग़ंबर दिखाई दिया।

इन वाक्यों में जामी ने न केवल शरीर से पृथक् होकर बाहर घूमनेवाली आत्माओं का ज़िक्र किया है बल्कि आत्माएँ जिन उपास्यों और सहायकों की सहायता से दिव्य लोकों में जाया करती हैं उनका भी हवाला दिया है।

यह योग की प्रक्रिया से ही संभव है। शरीर से पृथक् होकर आत्माओं का बाहर भ्रमण करना अनेक ग्रंथों में वर्णन किया गया है।

प्रेतों और पिशाचों की योनियों में जाने का क्रम दूसरा है। जब जीव शरीर को छोड़ता है तब उसके स्थूल और सूक्ष्म शरीर तो नष्ट हो जाते हैं पर कारणशरीर तब भी साथ रहता है। वही उसके कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगने के लिए अनेक योनियों में जाया करता है। एक शरीर छोड़ने और दूसरा शरीर धारण करने के बीच के समय में जीव कुछ काल तक प्रेतयोनियों में रहता है। तब तक उसे कोई शरीर नहीं प्राप्त होता। अपनी मरते समय की अपूर्ण अभिलाषा और प्रवृत्ति के अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ प्रेत बनता है और जब तक नई योनि नहीं मिलती तब तक प्रेत ही बना रहता है।

इन विभिन्न योनियों में जीव तभी तक रहता है जब तक उसके कर्मों का फलाफल नष्ट नहीं हो जाता। उसके नष्ट होने पर जीव को मुक्ति मिल जाती है। तब वह अशरीरी विश्वात्मा के साथ एकाकार हो रहता है।

पिंड और ब्रह्माण्ड
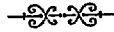
हम ऊपर कह चुके हैं कि जो कुछ पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है। रहस्यवादियों ने बतलाया है कि जो कुछ ज़र्रे में है वही दरिया में भी। भागवत में कहा है—

यावानयं वै पुरुषः यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥

अर्थात् किसी एक व्यक्ति के जो जो अंग-उपांग होते हैं वही विराट् पुरुष के भी हुआ करते हैं। इसी के आधार पर गीता कहती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् चाहे विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण हो, चाहे गाय हो, चाहे हाथी अथवा कुत्ता हो या श्वपच, पंडित लोग सबको समान दृष्टि से देखते हैं।

इसी आशय की एक सूफ़ी कविता भी है—

मुहक़्क़िक़ हमीं बीनद अंदर एबिल।
के दर ख़ूब रूयाने चीनो चेगिल ॥

अर्थात् ऊँट के अंदर भी विद्वान् पुरुष उन्हीं क़ायदों को देखते हैं जो चीन की अपूर्व सुंदरी में उन्हें दिखाई देते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा उसके शरीर को आच्छादित करती है उसी प्रकार परमात्मा इस जगत्-शरीर को आच्छादित करता है। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उसकी आत्मा से ही सजीव है उसी प्रकार यह जगत् भी परमात्मा से अनुप्राणित है। जिस प्रकार आत्मा द्रष्टा है किन्तु स्वतः अदृश्य है उसी प्रकार परमात्मा भी।

समस्त सूर्य-मंडल एक अणु में प्रतिबिंबित है। विज्ञान एक बीज में, और एक कीटाणु में समस्त उद्भिज्ज और जीव जगत् का आधार देखता है। उसी प्रकार परमात्मा के विषय में कहा गया है—

विद्यते स च सर्वस्मिन् सर्वं तस्मिंश्च विद्यते।
तस्मात् संविदिति प्रोक्तः परमात्मा महात्मभिः॥

अर्थात् वह सबमें और सब उसमें विद्यमान है। इसलिए परमात्मा को महात्मा लोग 'संविद्' कहा करते हैं।

पिंड के विषय में सब कुछ जान लेना ब्रह्माण्ड के विषय में भी सब कुछ जान लेना है। असंख्य अणुओं से ही यह विराट् विश्व बना है।

यह धर्म का पाँचवाँ मुख्य सिद्धान्त है।

दिव्य पुरुषों की परंपरा
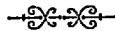
जिस प्रकार मनुष्य-योनि से नीचे बहुत-सी योनियाँ होती हैं उसी प्रकार उससे ऊपर भी दिव्य पुरुषों की परंपरा हुआ करती है। यह परंपरा मनुष्य-जाति के कल्याण का ध्यान रखती है, जिस प्रकार पिता-माता अपनी संतान के हित का ध्यान रखते हैं। प्रसिद्ध पश्चिमी वैज्ञानिकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। सभी धर्मों में इन दिव्य पुरुषों का उल्लेख है। वैदिक धर्म में इन्हें अवतार, अंश, कला, विभूति, कुमार, मनु, ऋषि, मुनि आदि संज्ञाएँ दी गई हैं। बौद्धधर्म इन्हें बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व नामों से पुकारता है। जैन इन्हें अर्हत् और तीर्थंकर कहते हैं। इस्लाम में इनका नाम क़ुतुब, ग़ौस, वतद, अब्रार, बदल, अख्यार, वली, नबी, रसूल आदि है। क्रिश्चियन धर्म में इन्हें 'प्राफेट', 'सेंट', 'मसाया' आदि कहा गया है। इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् 'जब कभी धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की उन्नति

होती है, तब हे अर्जुन, मैं अवतार लेकर संसार में आया करता हूँ।'
दुर्गासप्तशती में देवी कहती हैं—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

अर्थात् 'जब जब दानवों के उत्थान से संसार में कष्ट उत्पन्न होगा तब तब मैं पृथ्वी पर उतरकर दुष्टों का दलन करूँगी।'

मुहम्मद साहब ने कहा है—'ले कुल्ले क़ौमिन हाद.........इन मिन उम्मातिन इल्ला खला फ़िहा नज़ीर........वल अक़द व अस्ना फ़ी कुल्ले उम्मतिन रसूलन—क़ुरान

अर्थात् 'सभी क़ौमों में बड़े बड़े महात्माओं का आगमन हुआ है। अल्लाह ने सभी क़ौमों को उपदेशक अथवा शिक्षक दिया है। ये उपदेशक उन्हीं अशिक्षितों में से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान तथा धर्म का उपदेश देकर उन्हें पवित्र बनाते हैं।

बुद्ध भगवान् कह गए हैं—'आगे चलकर दूसरे बुद्ध धराधाम में आवेंगे। उनका नाम होगा मैत्रेय।'

प्रभु ईसू ख्रीष्ट का कथन है—'मैं फिर आऊँगा और तुमसे मिलूँगा, ताकि जहाँ मैं रहता हूँ वहीं तुम्हें भी ले चलूँ।'

इन संतों, महात्माओं, अवतारों और दिव्य विभूतियों के आगमन से पृथिवी पर नूतन प्रकाश फैल जाता है। इश्क़े-हक़ीक़ी का आलम छा जाता है। धर्म को नई आत्मा प्राप्त होती है। धार्मिक सिद्धान्तों को नवजन्म और नवोत्साह प्राप्त होता है। धार्मिक कलह दूर होते और धर्मों की एकता पनपती है। यह दिव्य पुरुषों की परंपरा का ही परिणाम है।

जीवन का लक्ष्य आत्मदर्शन
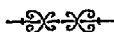
ज्ञान-मार्ग के अंतर्गत सबसे पहले हमने परमात्मा या परमतत्त्व की चर्चा की है। अब अंत में हम यह कहेंगे कि मानव-जीवन का लक्ष्य इसी परमसत्ता अथवा परमात्मा का जागृत अनुभव करना है। रूपक की भाषा में यात्री अपने घर पहुँच गया, बिंदु सिंधु को पा गया—जीवात्मा परमात्मा से मिलकर एक हो गया।

मनुष्य-जीवन के लक्ष्य दो हैं—अभ्युदय और निःश्रेयस। अभ्युदय का अर्थ है सांसारिक उन्नति। इसके तीन अंग हैं—धर्म, अर्थ और काम। निःश्रेयस का अर्थ है सांसारिक आवागमन से छुट्टी पा जाना, मुक्त हो जाना, जहाँ से चले थे वहीं (उसी परमात्मा में) पहुँच जाना। अभ्युदय अर्थात् सांसारिक उन्नति से भी ऊँचा निःश्रेयस का सुख है। मनुष्य-जीवन का अन्यतम लक्ष्य यही है।

बाइबल में कहा है—

Stand fast therefore in the liberty where with Christ hath made us free and be not entangled again with the yoke of bondage,

अर्थात् 'उस स्वतंत्रता के लिए मज़बूती के साथ खड़े हो जो खृीष्ट से हमें मिली है। अब दुबारा बंधन का जुआ हम अपने कंधे पर न रक्खें।'

'सत्य ही तुम्हें स्वाधीन करेगा'

इस स्वाधीन अथवा मुक्त स्थिति के बराबर दूसरी कोई स्थिति नहीं है। इस स्थिति में इतरता या ग़ैरियत के लिए स्थान नहीं रहता। जीव ब्रह्म की पदवी पर पहुँच जाता है। 'अनानियाते अदना' 'अनानियाते आला' बन जाता है। मनुष्य ईश्वर कहलाने लगता है। इस स्थिति के उद्गार सभी धर्मग्रंथों में मिलते हैं—

मन् तो शुदम् तो मन् शुदी,
मन् तन शुदम् तू जाँ शुदी।
ता कस न गोयद बाद अज़ीं।
मन दीगरम तू दीगरी॥

'मैं तुमसे भिन्न नहीं हूँ और तू मुझसे भिन्न नहीं है। मैं तेरा शरीर हूँ, तू मेरा आत्मा है। अब से कोई यह न कहे कि मैं दूसरा हूँ और तू दूसरा।'

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

'जब आत्मदर्शन हो गया, एकत्व को देख लिया तब मोह कहाँ और शोक कहाँ।'

गाथा कहती है—'मनन के बल से हम तेरे निकट पहुँचेंगे, वहीं जहाँ से हम आरंभ में चले थे।'

इस अपूर्व स्थिति के आनन्द का वर्णन करते हुए कविगण बड़े ही मार्मिक उद्गार प्रकट कर गए हैं—

मा मुक़ीमाने कूए दिलदारेम,
रुख ब दुन्या व दीं न मी आरेम।

बुलबुलानेम कज़ क़ज़ा व क़दर,
ओफ़ादह जुदा ज़े गुल्ज़ारेम।
मन् नदानम के अंदराँ हैरत,
ब विसाली के दाद पैग़ामे।
के ब चश्माने दिल बीं जुज़ दोस्त,
हर चे बीनीं बिदां के मज़हरे-ओस्त।—विसाली

"दिलदार (प्रियतम) के सुंदर बग़ीचे में हम रहते थे। उसी की इच्छा से या अपने दुर्भाग्य से हम वहाँ से निकाले गए और दुनिया में बहुत भटके। पर अब हम दुनिया की बातों को समझ चुके। अब हमें उससे वास्ता नहीं। बहुत-सी परेशानियाँ उठाने और बड़े चक्कर लगाने के बाद आख़िर हम उसके पास फिर से लौटे हैं। क्या ही चमत्कार है! उसने अपने स्पर्श से हमें रोमांचित कर दिया, आनन्द से भर दिया। यही प्रियतम है (दूसरे किसी में यह सुख कहाँ)। हमारे अंदर महान् संगीत की ध्वनि उठ रही है। वह कहती है—तुम मुझसे दुबारा लौटकर मिले। अब दिल की आँखों से (मुझ) प्रियतम पर ही दृष्टि रखना। तुम्हें मालूम है, जो कुछ भी दिखाई देता है सब प्रियतम का ही जलवा है।"

मित्रस्य चक्षुषा पश्येम। (वेद)

मित्र की आँखों से समस्त संसार को देखता हूँ।

गौहरे जुज़ ख़ुद शिनासी,
नीस्त दर बहे वुजूद।

मा ब गिर्दे ख़ेश मे,
गर्देम चूँ गिर्दाबियाँ। (सूफ़ी)

'अपने चारों ओर घोर संघर्ष की भँवर में हम चक्कर लगा रहे थे। अब हमें आत्मज्ञानरूपी अनमोल मोती मिला।'

न वा पत्युः जायायाः पुत्रस्य वित्तस्य आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति—उपनिषद्।

'पति, जाया, पुत्र, वित्त आदि में सुख नहीं है, आत्मा की कामना से ही सब प्रिय लगते हैं।'

जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं,
उस दिलबर की फुलवारी है।
कहीं सब्ज़ी की हरियाली है,
कहीं फूलों की गुलकारी है।
दिन रात मगन ख़ुश बैठे हैं,
औ आस उसी की भारी है।
बस आप ही वह दातारी है,
औ आप ही वह भंडारी है।
हर आन हँसी हर आन ख़ुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।

(नज़ीर अकबराबादी)

मौलाना रूमी ने क्या ही सुन्दर कहा है—

वर शाहे ख़ूब रूयाँ वाजिब वफ़ा न वाशद।
ऐ ज़र्द रूए आशिक़ तू सब्र कुन वफ़ा कुन॥

'सौन्दर्य का बादशाह किसी एक से प्रेम नहीं करता। इसलिए ऐ प्रेमी, तू प्रेम के साथ सब्र भी कर।'

इस अलौकिक सुख को पाने का अधिकार किसे है? वह जो सोता है वह खोता है। जिसे पाना हो वह जागे—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।—गीता

सब जीवों के लिए जो रात्रि है (सोने का समय है) संयमी पुरुष उसमें जागते रहते हैं।

इस खोज का मज़ा क्या है, इस पर कवि की उक्ति है—'जो मज़ा इंतज़ार में देखा, वह नहीं वस्ले यार में देखा।'

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कष्ट झेल कर भी इस अपूर्व अंतिम आनन्द का आस्वादन करे। उसके जीवन की सार्थकता और चरम सिद्धि इसी आत्मदर्शन में है। इस कर्तव्य से पराङ्मुख होना न केवल जीवन के प्रधान कर्तव्य और सर्वोच्च सुख से वंचित हो जाना है, वल्कि यह घोरतर पाप भी है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

"हे अर्जुन जो इस चिरकाल से चले आए हुए धर्म का पालन नहीं करता, संसार में अपने कर्तव्यों को पूरा करता हुआ निःश्रेयस के महान् सुख की प्राप्ति के प्रयत्न में नहीं लगता, वह पापी है, इन्द्रियों का सुख चाहनेवाला है और व्यर्थ जीता है।"

तृतीय अध्याय

भक्तिमार्ग और उसके साधन
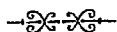
भक्ति का कोई पृथक् मार्ग नहीं है। मनुष्य की भावना प्रधान, आदर्शात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता भक्ति में होती है। इसलिए इसमें ऊँचे कर्तव्य और महान् त्याग की शिक्षा दी गई है। हृदय पक्ष की मुख्यता के कारण यह अतिशय आदर्शवादी पथ है। हृदय कितनी ऊँची भावना भूमि पर स्थित होकर कितने आश्चर्यजनक त्याग और सदाचार का उदाहरण बन सकता है, यह भक्ति-मार्ग की साधनाओं को देखकर अनुमान किया जा सकता है। खृष्टीय मत मुख्यतः भक्ति-प्रधान है, जैन और बौद्ध भी वैराग्यप्रधान भक्ति-मार्ग का ही उपदेश करते हैं। इनके उपदेशों को सुनकर श्रवण पवित्र होते हैं। सभी धर्मों में भक्ति की शिक्षा दी गई और भक्त के उच्चादर्शों का निरूपण किया गया है। यद्यपि उनका पालन आज बहुत कम होता है किन्तु यह तो समय की बात है।

भक्तिमार्ग में केवल ऐसे कर्तव्यों का निरूपण और आचरणों का निर्देश ही नहीं है, जो अव्यावहारिक और कोरे आदर्शात्मक हैं। विशेषकर भारतीय धर्मग्रंथों में इस मार्ग के अंतर्गत एक व्यापक और व्यावहारिक सामाजिक व्यवस्था का भी विधान किया गया है।

आज भी उसका अनुसरण किया जाय तो संसार का अपार कल्याण हो।

पहले हम सब धर्मों में समान रूप से पाये जानेवाले उन आचरण-संबंधी उपदेशों का उल्लेख करेंगे जो भक्तिमार्ग के लिए आवश्यक हैं और इसके पश्चात् हम उस सामाजिक व्यवस्था की रूप-रेखा प्रस्तुत करेंगे जो भक्तिमार्ग के अंतर्गत, हमारे शास्त्रों के अनुसार बर्ती जानी चाहिए।

हमारे कहने का आशय यह नहीं है कि इन दोनों बातों में अर्थात् आचरण-संबंधी उपदेशों और सामाजिक व्यवस्था-संबंधी निर्देशों में परस्पर विरोध है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि व्यक्तिगत आचरणों का जो उपदेश भक्तिमार्ग में दिया गया है वह एक अलग चीज़ है और सामाजिक व्यवस्था का निर्माण जिन नियमों पर होगा, वह दूसरी चीज़ है। वास्तव में यह बड़ी भ्रान्त धारणा है। यहाँ हम केवल यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि जिन आदर्शात्मक नियमों का पालन करने की आज्ञा व्यक्तियों को दी जाती है उनका वास्तविक तात्पर्य क्या है और उन्हीं आदर्शात्मक आचरणों की नींव पर सामाजिक उन्नति का प्रासाद किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकता है।

संक्षेप में, हम यहाँ भक्तिमार्ग के अंतर्गत व्यक्तिधर्म और लोकधर्म की एकसूत्रता दिखाना चाहते हैं।

मनु महाराज ने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच

(शारीरिक शुद्धि), इन्द्रियों पर अधिकार, यह संक्षेप में सभी वर्णों के लिए (मनुष्यमात्र के लिए) धर्म है।

ध्यान देने की बात है कि यह धर्म चारों वर्णों के लिए कहा गया है किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं। वास्तव में यही सामाजिक धर्म अथवा मानवधर्म की नींव है।

बुद्ध भगवान् ने भी पाँच प्राथमिक कर्तव्यों का निर्धारण किया है—अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, मद्य त्याग, इन्द्रियनिग्रह।

जैन धर्मग्रंथों में भी पाँच प्रधान कर्तव्य निरूपित किए गए हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह।

हज़रत मूसा के सुप्रसिद्ध पाँच महावाक्य ये हैं—

Thou shalt not kill—हिंसा न करना।

Thou shalt not bear false witness—मिथ्या न बोलना।

Thou shalt not steal—चोरी न करना।

Thou shalt not commit adultery—परपुरुष या परस्त्री-प्रसंग न करना।

Thou Shalt not covet anything that is thy neighbours—अपरिग्रह रखना।

प्रभु ईसा मसीह भी हज़रत मूसा के इन पाँचों महावाक्यों का उपदेश करते हैं। मुहम्मद साहब का आदेश यह है—

१. वला यक़्तुलू नन्नफ़सल्लती हॅमल्लाहुइल्ला बिलहक़्क़े।

२. वज्तनेबू क़ौलज़्ज़ूरे।

३. अस्सारेक़ो वस्सारेक़तो फ़क़्तूऊ ऐदेयहुम।

४. अल खमरो मिन अमलिश शैतान।

५. वल्लाज़िनहुम लेफ़ुरूजिहिम हाफ़िज़ून।

(क़ुरान)

सारांश यह कि—१ किसी की हिंसा न करो। २ असत्य न बोलो। ३ चोरी न करो। ४ मद्यपान न करो और ५ कामवासना में न फँसो।

ये उपदेश सभी वर्णों, जातियों और आश्रमों के लिए हैं। ये मनुष्यमात्र के मूल धर्म हैं। इनके अतिरिक्त अलग-अलग वर्णों, आश्रमों आदि के विशेष कर्तव्य हैं, जिनका सभी धर्मों में अलग से उपदेश दिया गया है। यहाँ हम उन विशेष कर्तव्यों का ज़िक्र न करके मौलिक या बुनियादी धर्म पर ही पहले विचार करें।

बुनियादी धर्म
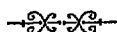
बुनियादी धर्म यही है जिसकी शिक्षा संसार के सभी प्रधान धर्मग्रंथों में दी गई है। कुछ थोड़े से शाब्दिक अंतर से यह बुनियादी धर्म वह है जिसे महात्मा पतंजलि ने अपने योगसूत्र में 'यम' नाम दिया है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इनका स्पष्टीकरण संक्षेप में किन्तु बड़े सुंदर ढंग से सर एडविन आर्नल्ड ने अपनी अमर काव्य पुस्तक Light of Asia में किया है। यह पुस्तक बौद्धों का एक प्रामाणिक धर्मग्रंथ-सी बन गई है। सर एडविन ने लिखा है—

Kill not—for Pity's sake—and lest ye stay
The meanest thing upon its upward way,
Bear not false witness, slander not nor lie,
Truth is the language of inward purity,
Give freely and receive but take from none
By greed or force or fraud what is his own,
Shun drugs and drinks which work the wit abuse
Clear minds, clean bodies need no 'Soma' juice,
Touch not thy neighbour's wife neither commit
Sins of the flesh unlawful and unfit.

१. हिंसा न करो। दया दिखाओ, अदनी से अदनी चीज़ का भी उत्थान बंद न कर दो।

२. झूठ न बोलो, न झूठी गवाही दो। न शब्दों द्वारा दूसरों का अपमान करो; सत्य बोलो, हृदय की पवित्रता की भाषा सत्य ही है।

३. खुलकर दो और खुलकर लो; पर लालच से, बल से अथवा धोखेधड़ी से नहीं।

४. नशा न करो, जिससे बुद्धि भ्रष्ट होती है। शुद्ध मन और स्वस्थ शरीर 'सोम' रस की अपेक्षा नहीं रखते।

५. पड़ोसी की स्त्री का स्पर्श न करो; कामवासना के पाप से बचो।

इस बुनियादी धर्म के अतिरिक्त जो सबके लिए है, कुछ अन्य शिक्षाएँ विशेषकर संन्यासियों, भिक्षुओं, फ़क़ीरों, योगियों आदि के लिए दी गई हैं। उनके लिए यमों और नियमों का पालन कड़ाई से करने का आदेश है। यमों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। नियम महात्मा पतंजलि के शब्दों में ये हैं—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं। जब साधक असाधारण लगन का होता है और उसका संसार के प्रति वैराग्य और आत्मसत्ता के प्रति राग अधिक तीव्र होता है तब वह कठिन से कठिन नियमों का पालन बड़े प्रेम और श्रद्धा से करता है।

जब प्रश्नकर्ता ने ख़ीष्ट से पूछा कि 'अमर जीवन की प्राप्ति के लिए कौन सा काम करूँ?' तो ख़ीष्ट ने वही उत्तर दिया जो योग-शास्त्र में दिया गया है, अर्थात् सारे परिग्रह का त्याग। उन्होंने कहा 'यदि तुम पूर्णतः ईश्वर का संनिधान चाहते हो तो जो कुछ तुम्हारे पास है ग़रीबों को बाँट दो और मेरे साथ हो लो।'

ईश्वर का साक्षात्कार चाहते हो तो विषय-सुखों को तिलाञ्जलि दो। कर्म, वचन, मन से महात्माओं के उपदेशों का पालन करो।

मुहम्मद साहब ने भी ऐसे ही आगे बढ़े हुए साधकों के लिए फ़क्र और सिन्फ़ का, पूर्ण-त्याग और संतोष का उपदेश किया है।

अलफ़क्रो फ़ख़री—(हदीस)

अर्थात् 'ग़रीबी का ही मुझे सच्चा अभिमान है।'

त्याग और संतोष के अतिरिक्त दूसरी कठिन साधना है जीभ का संयम। इन्द्रियों में जिह्वा सबसे प्रबल है। उसे वश में रखना बहुत ही दुष्कर है।

हज़रत मुहम्मद से पूछा गया कि समस्त धर्म का मूल आधार क्या है तब उन्होंने अपनी जीभ पर हाथ रक्खा और कहा— इसकी लगाम क़ाबू में रक्खो। इसी के बेक़ाबू होने से मनुष्य घोर नरक की ज्वालाओं में जा पड़ता है।

माता-पिता और आचार्यों का सम्मान
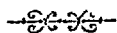
गुरु, पिता और माता के प्रति सम्मान करने और श्रद्धा रखने की शिक्षा सभी धर्मग्रंथों में प्रमुख रूप से दी गई है।

माता और पिता का प्रेम तो संतान के प्रति निसर्गतः होता है। उसकी शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है। महात्मा शंकराचार्य ने कहा है—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

अर्थात् पुत्र कुपुत्र होते हैं, माता कुमाता कभी नहीं होती। हज़रत मुहम्मद साहब कहते हैं—

'बिलवालिदैने इहसाना'—क़ुरान

(माता-पिता की सेवा करो)

हदीस कहती है—अल् जन्नतो तहते क़दमिल उम। अर्थात् माता के चरणों में स्वर्ग विराजमान है।

ईश्वर के, अल्लाह के, सबसे अधिक मधुर और पवित्र नाम हैं—अर्रज्ज़ाक़, अर्रहमान, परमपिता।

ब्रह्म, माया और जीव; ओसिरिस, आइसिस और होरस; एमन, नीथ और खोन्स—ये भिन्न-भिन्न धर्मों में प्रधानतम तत्त्व

माने गए हैं और इनका संबंध है पिता, माता और पुत्र का। इससे स्पष्ट है कि दिव्य परिवार के ये ही दिव्यतम अंग हैं।

माता और पिता शब्दों में जो मूलभूत पवित्रता है वही स्त्री और पुरुष के परस्पर सुदृढ़ और शुद्ध प्रेम-संबंध की सूचना देती है। इस पति-पत्नी-संबंध में पर-स्त्री और पर-पुरुष-सेवन की कल्पना स्वप्न में भी नहीं है।

आत्मवत्सर्वभूतेषु
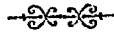
व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षेत्र में जो धर्म की शिक्षा है, उसी का विस्तार समाज के व्यापक क्षेत्रों में भी होता है। सामाजिक धर्म और व्यक्तिधर्म में कोई मौलिक अंतर नहीं है। केवल सामाजिक क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

ख्रीष्ट ने सामाजिक धर्म के लिए एक अत्यंत सुंदर और उत्तम सूत्र का निर्देश किया है। वह यह है—

'तुम जो कुछ व्यवहार दूसरों से चाहते हो वही व्यवहार स्वयं दूसरों के प्रति करो।'

वैदिक धर्मग्रंथों में यही सूत्रविधि और निषेध दोनों रूपों में आया है, अर्थात् १ विधि—जैसा व्यवहार दूसरों से चाहते हो वैसा ही दूसरों के प्रति करो। २ निषेध—जैसा व्यवहार दूसरों से नहीं चाहते वैसा दूसरों के प्रति न करो।

महाभारत में कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलान् वै परेषाम् न समाचरेत्।
न तत् परस्य कुर्वीत स्यादनिष्टं यदात्मनः।
यद्यद् आत्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत्।

मुहम्मद साहब ने भी इसी सूत्र का उल्लेख किया है और इसे ही धर्म का उच्चतम स्वरूप कहा है।

यही प्रकारान्तर से सब मनुष्यों की एकता या समता का सिद्धान्त है। वेद और क़ुरान दोनों में ही इसका अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में प्रचार है। गीता कहती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

अर्थात् सुख में अथवा दुःख में जो अपनी उपमा से (अपने समान) सबको देखता है वही सर्वश्रेष्ठ योगी है।

महात्मा बुद्ध ने इसी सूत्र का निर्देश 'समान आत्मा' के नाम से किया है।

हितोपदेश में कहा है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥

अर्थात् दूसरों की स्त्रियों को माता के समान, दूसरे के धन को मिट्टी के समान, सब जीवों को अपने समान जो देखता है, वही सच्चा तत्त्वदर्शी है।

हर च बर ख़ुद न पसंदी,
बर दीगराँ म पसंद। (सूफ़ी काव्य)

जो कुछ तुम अपने लिए पसंद नहीं करते, दूसरों के लिए भी पसंद न करो।

सभी धर्म एक ही उपदेश देते हैं।

'स्व' का नाश नहीं
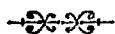
सब जीवों को अपने समान समझने और उसी भाव से उनके प्रति व्यवहार करने का अर्थ यह नहीं है कि हम 'स्व' का तिरस्कार करते हैं——'पर' की वेदी पर 'स्व' का बलिदान करते हैं। बात इससे उल्टी है। वास्तव में हम 'स्व' को 'पर' की माप बनाते हैं। जितना-जितना हमारा अपना व्यक्तित्व, 'स्व' ऊँचा होगा उतना ही उतना हम 'पर' के प्रति, समस्त जगत् के प्रति, उदार होंगे। यदि 'स्व' का हम तिरस्कार करेंगे और उसका उन्मूलन कर देंगे तो 'पर' का, जगत् का भी कोई हितसाधन हम न कर सकेंगे।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु'-का अर्थ 'आत्म' का अथवा अपना नाश करना नहीं है, बल्कि उसे ऊँचा उठाना है। यह ऊँचा उठना किन साधनों से होगा——

१. हम दूसरों को अपने समान समझें।

२. हम दूसरों के प्रति वह व्यवहार करें जो अपने प्रति करते हैं।

३. हम दूसरों के प्रति वह व्यवहार न करें जो हम अपने प्रति नहीं चाहते।

इसी नियम के और भी कई उपनियम हैं। जब दूसरों के प्रति

हम अपने जैसा व्यवहार करने का नियम बना लेंगे तब हम (१) ऐसा कोई काम न करेंगे जिससे दूसरों को दुःख पहुँचे, (२) ऐसा कोई आचरण न करेंगे जैसा दूसरों को करते देख लज्जित होते हैं।

इसी के दो उपनियम और हैं—१. हम दूसरों के दोष न देखना चाहें। २. हम दूसरों के दुःख अपने ऊपर ले लेना चाहें।

महात्मा कनफ़ूशियस ने कहा है—'मनुष्य में सबसे बड़ा रोग यह है कि वह अपना खेत नहीं निराता, दूसरों के खेत निराने जाता है (अपने दोष न देखकर दूसरों के दोषों पर हमले करता है)। दूसरों पर बड़े ऊँचे आचरण की ज़िम्मेदारी रखता है और अपने ऊपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं रखता।

कांगूसी का कथन है—जब तक हमारे अपने दोष दूर नहीं हुए तब तक दूसरों का सुधार करना हमारी हिमाक़त है।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त व्यवहार में कभी-कभी कठिनाइयाँ और संदिग्धता उत्पन्न करता है। किन्तु यह सिद्धान्त दैनिक व्यवहार के लिए ही है। वास्तव में इसके व्यवहार के संबंध में कठिनाई इसलिए आती है कि हम अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। दूसरे जो भी कारण हैं अवास्तविक और नकली हैं। अवश्य, महापुरुषों ने इस विषय में जो आदेश दिया है उनमें शाब्दिक अंतर हो सकता है। वह अंतर भी केवल इस कारण कि परिस्थिति-भेद से कर्तव्य में भेद हो जाते हैं। पर सिद्धान्त ज्यों का त्यों रहता है। उसका मूल आधार नहीं बदलता।

अपने समान सब जीवों को समझना तब तक संभव नहीं है जब तक हमारे चित्त में किसी के प्रति घृणा बनी हुई है। इसीलिए महात्मा बुद्ध ने कहा है—घृणा को प्रेम से जीतो।

हज़रत मुहम्मद भी कहते हैं—

'इदफ़ा बिल्लती हेया अहसन'

अर्थात् बुराई का बदला भलाई से चुकाओ।

महात्मा ख्रीष्ट का कथन है—'बुराई का विरोध न करो। यदि तुम्हारे दाहिने गाल पर कोई थप्पड़ मारता है तो बायाँ गाल भी फेर दो। जो तुम्हें शाप देते हैं उन्हें आशीर्वाद दो। अपने शत्रुओं को प्यार करो और जो तुम पर अत्याचार करते हैं उनके हित की प्रार्थना करो।'

ख्रीष्ट के इस उपदेश में 'अहिंसा' की शिक्षा है। किन्तु इस अहिंसा का यह आशय नहीं है कि हम अपनी और अपने आश्रितों की रक्षा न करें। अपने ऊपर होनेवाले आततायिओं के आक्रमणों से रक्षा करना कर्तव्य है।

निर्दोष व्यक्ति या जीव की हिंसा करना अधर्म है पर दोषी आक्रमणकारी और आततायी के आक्रमण से रक्षा करना और उसे दंड देना अधर्म नहीं, बल्कि धर्म है।

दान देना धर्म है, पर देश, काल और पात्र का ध्यान रक्खे बिना दान देना अधर्म है। मनुस्मृति में कहा गया है—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः।

अर्थात्—जो मनुष्य समर्थ होकर अपने दुःखी और निर्धन स्वजनों की सहायता नहीं करता, किन्तु परजनों को दान देता है, वह अधर्म करता है।

संत पाउल कहते हैं—यदि कोई व्यक्ति अपने और विशेषकर

अपने कुटुंबियों के लिए भरण पोषण की व्यवस्था नहीं करता वह नास्तिक से भी गया-बीता है। वह आस्तिकता का अपमान करता है।

इन सब प्रसंगों में धर्म-अधर्म का निर्णय करने का नियम यह है—प्रत्येक अवस्था में मुख्य सिद्धान्त है, बुराई के बदले भलाई करो। क्षमा करो और कष्ट न देकर स्वतः सहो। किन्तु साथ ही दूसरा विशेष नियम यह है, बुराई के विरुद्ध लड़ो, विशेषकर जब स्वजनों और कुटुंबियों पर आक्रमण हो।

पहला सिद्धान्त संतों, संन्यासियों और गृहत्यागियों को विशेष तत्परता के साथ पालन करना चाहिए। दूसरा नियम गृहस्थों और मुख्यतः क्षत्रियों या जनसेवकों के लिए अनिवार्य है।

संक्षेप में यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त हमें निष्क्रिय होने की शिक्षा नहीं देता। सामाजिक व्यवहारों में यदि इसका पालन नहीं किया जायगा तो यह एक कागज़ी और कल्पना-जगत् का आदर्श बना रहेगा। वास्तव में यह सिद्धान्त हमारे सामाजिक संगठन को सुचारु रूप से संचालित करने के काम में ही आना चाहिए। व्यापक सामाजिक व्यवस्था इस सिद्धान्त के आधार पर किस प्रकार बन सकती है और उसमें यह सिद्धान्त किस रूप में क्रियाशील होगा, इस विषय की विशेष चर्चा हम आगामी अध्याय में करेंगे, जहाँ कर्ममार्ग और सामाजिक संगठन का विषय आया है। यहाँ इस विषय का संकेतमात्र किया जाता है।

पाप की जड़
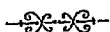
ऊपर धर्म और उसके मूलभूत नियमों की कुछ चर्चा की गई है। अब हम यहाँ धर्म के विरोधी पाप और उसकी जड़ के संबंध में कुछ कहेंगे। धर्म क्या है, केवल इतना ही जानना हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। धर्म का विरोधी पाप क्या है, और उसका मूल कहाँ है, यह भी हमें जान लेना चाहिए। पाप का अर्थ है असत् विचार, असत् इच्छा और असत् आचरण। इसकी उत्पत्ति का मूल हेतु है असत् वस्तु, अविद्या, माया, अथवा वहम या ना-हक़ का बुद्धि पर पर्दा पड़ जाना। इसी पर्दे के फलस्वरूप जीव अपने को परमात्मा से भिन्न अनुभव करता और छोटे टुकड़ों में बँट जाता है। मैं यह शरीर हूँ, हाड़-मांस का पुतला हूँ, मेरे-जैसे बहुत-से हाड़-मांस के टुकड़े हैं, यह धारणा ही मूल अज्ञान है। इस अज्ञान से अहंकार की, सीमित 'स्व' की, सृष्टि होती है। सीमित स्व से कामना (अथवा काम) और कामना से क्रोध की सृष्टि होती है। गीता में श्रीकृष्ण ने इसी काम-क्रोध को जीव का परम शत्रु बतलाया है। पाप के इस क्रम को श्रीकृष्ण आरंभ से ही सूचित करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

प्रकृति के किए हुए गुणों से समस्त कर्म आप-से-आप हुआ

करते हैं, किन्तु मनुष्य, जो अहंकार में, क्षुद्र 'स्व' में, विमूढ़ हो गया है उन कर्मों का कर्ता अपने को मानता है।

और अर्जुन के पूछने पर कि हम पाप करने में क्यों प्रवृत्त होते हैं, श्रीकृष्ण समझाते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

अर्थात् रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले काम और क्रोध ही समस्त पापों के जनक हैं। ये बड़े शक्तिशाली और विशाल पेटवाले हैं, इन्हें जीवों का घोरतम शत्रु समझो।

काम के और क्रोध के अनेक उपविभाग हैं। कामना या एषणा के उपविभाग वेदान्त के अनुसार तीन हैं—लोकैषणा, वित्तैषणा, दारसुतैषणा। सूफ़ी इन्हें (१) ज़मीन, (२) ज़र (धन) और (३) ज़न (स्त्री) की ख्वाहिश कहते हैं। ख्रीष्टीय देशों में इन्हें १ Wine, २ Wealth और ३ Women की कामना कहा गया है।

इन्हीं एषणाओं का प्रतिकार १ अहिंसा, २ अपरिग्रह, ३ ब्रह्मचर्य के द्वारा करने का विधान शास्त्रों में है। १ तर्के ईज़ारसानी, २ तर्के सितम (हिंसा का त्याग), ३ तर्के दौलत (धन का त्याग) और ४ तर्के शहवत (कामवासना का त्याग)—यह सूफ़ियों की शब्दावली है।

और दूसरी खूबियों—कमाल, धर्म, यम, शील आदि का हम ऊपर संक्षेप में उल्लेख कर चुके हैं। इन सबमें श्रेष्ठ और सबसे बड़ी खूबी जो शेष सारी ख़ूबियों को अपने में समन्वित कर लेती है, एक ही सत्य अथवा एकत्व का ज्ञान है; इसे ही परमात्मा का ज्ञान या अनुभव कहते हैं। यह सब धर्मों का शीर्ष धर्म है। पापों की जड़ इसी से कट सकती है।

पाप की जड़ काटने के साधन
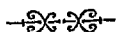
काम, वासना अथवा एषणा के तीन प्रधान स्वरूप हैं—आहार, धन और रति की एषणा।

इन्हीं का नियमन और नियंत्रण करने के लिये समाज में धर्म, व्यवस्था, संपत्ति और विवाह अथवा परिवार की संस्थाएँ क़ायम हुई हैं।

इन्हीं एषणाओं का शुद्धीकृत सामाजिक स्वरूप है—१. शाश्वत होने की भावना—यह धार्मिक क्षेत्र में चरितार्थ होती है। २. समृद्ध होने की भावना—यह कला-कौशल और समाज की आर्थिक व्यवस्था में चरितार्थ होती है और ३. बहुलतर होने की भावना जो परिवार, राज्य और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के नियमन में चरितार्थ होती है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि वेदान्त के अनुसार अविद्या या माया संपूर्ण पापों के मूल में है। अविद्या की दो शक्तियाँ हैं—१ आवरण और २ विक्षेप। आवरण शक्ति विवेक पर, एकत्व ज्ञान पर, पर्दा डाल देती है और विक्षेप शक्ति मन को अस्थिर और चंचल करती है।

इसलिए स्पष्ट है कि मन को स्थिर और अचंचल करना ही पाप की जड़ काटने का प्रधान साधन है। इससे विक्षेप दूर होता है और इसके पश्चात् स्थिर मन से आत्मचिन्तन करना माया की आवरण शक्ति को क्षीण करता है।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

अर्थात्, हे महाबाहु अर्जुन, निश्चय ही मन बड़ा चंचल और कठिनता से निग्रह योग्य है किन्तु वह अभ्यास से और वैराग्य से अधिकार में किया जा सकता है। जिस किसी ओर से यह चंचल मन बाहर भागने की, विषयों में फँसने की चेष्टा करे उसी ओर से उसकी रोक-थाम करके उसे वश में लाना चाहिए।

हमारे अंदर अच्छी और बुरी, दैव और आसुर भावनाओं के बीच निरंतर संग्राम होता रहता है। हमारा मन जबतक कमज़ोर है वह दैवी भावना की ओर न जाकर आसुर भावना की ही ओर फिसलेगा। धर्म को जानकर भी धर्म की ओर झुकाव नहीं होता, यही मन की दुर्बलता है। उसे क्रमशः शक्तिमान् करके धर्म की ओर मोड़ना होगा। अभ्यास और वैराग्य ही इसके प्रधान उपाय हैं।

मन का विक्षेप जब दूर हो, धर्म में उसकी रुचि हो तब विवेक के द्वारा माया की आवरण शक्ति को काटकर परमात्मसत्ता में मन को स्थिर करना होगा। तभी पापों की जड़ कटेगी और इसके पश्चात् ही जीव परमात्मा में स्थायीरूप से स्थान पा सकेगा। 'विशते तदनंतरम्'।

चित्तशुद्धि के पश्चात्
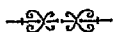
ऊपर अहिंसा, सत्य आदि के जो नियम बताए गए हैं वे चित्त-शुद्धि में सहायक होते हैं और यह हम देख चुके कि विना चित्तशुद्धि के परमात्मसत्ता का अनुभव संभव नहीं है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर उसमें परमात्मा की स्वच्छ झलक दीखने लगती है, जैसे निर्मल दर्पण में अपना प्रतिबिंब दीखता है। इसलिए चित्त का शुद्ध होना पहली शर्त है। किन्तु चित्तशुद्धि से ही धार्मिक अथवा आध्यात्मिक साधना समाप्त नहीं हो जाती। दोष, पाप अथवा मलिनता का अभाव ही चित्त की शुद्धि है। पर पाप का अभाव ही धर्म नहीं है। धर्म कुछ और भी है। धर्म है परमात्मा की शाश्वत सत्ता का जागृत अनुभव और उससे एकाकार होना। हृदय में परमात्मा की स्थापना। यह कोई सरल कार्य नहीं है। किसी रहस्यवादी क्रिश्चियन कवि ने कहा है—

Though Christ a thousand times in Bethlehem
be born,
But not within thy self, thy soul will be forlorn.

अर्थात् यदि ख्रीष्ट हजार बार भी बेथलहम (अपनी जन्मभूमि) में पैदा हों तो उससे तुम्हारा कुछ लाभ न होगा, यदि वे तुम्हारे हृदय में पैदा नहीं होते।

ख्रीष्ट का हृदय में पैदा होना ही—धर्म की चरम सार्थकता

है। पर उसका पैदा होना कोई आसान बात नहीं है। बहुत बार हम धोखा खा जाते हैं कि हमने परमात्मा को पा लिया। वास्तव में हम उसे पाते नहीं, जो कुछ पाते हैं वह परमात्मा नहीं कोई दूसरी ही वस्तु होती हैं। जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में यह ख़तरा है कि हम किसी लघुतर 'अहं' को 'परमात्मा' समझ लें उसी प्रकार भक्तिमार्ग में भी ख़तरा होता है कि हम किसी लौकिक उपास्य अथवा देवताविशेष को परम प्रेमस्वरूप परमेश्वर मान लें।

जबतक चित्त नितान्त शुद्ध नहीं हुआ तबतक जो कोई भी हमारे चित्त में निवास करेगा वह परमात्मा नहीं हो सकता क्योंकि अशुद्ध स्थान में परमात्मा का निवास असंभव है।

इसीलिए चित्तशुद्धि का इतना माहात्म्य है। शास्त्र उसकी प्रशंसा से भरे पड़े हैं। सारी साधनाएँ उसीके निमित्त की जाती हैं।

Blessed are the pure in heart for they shall see God.

अर्थात् वे धन्य हैं जिनका पवित्र हृदय है क्योंकि उन्हें ईश्वर के दर्शन होंगे। जब चित्त शुद्ध हो गया तब की स्थिति का वर्णन एक सूफ़ी कवि इस प्रकार करता है--

नूह गुफ़्त — ऐ सरकशाँ मन मन नयम।
मन ज़िजाँ मुर्दम ज़ी जाना मन ज़ियम॥
चूं बिमुर्दम अज़ हवासे बुल बशर।
हक़ मरा शुद सम्मो इद्राको बसर॥
चूँकि मन मन नीस्तम ईंदम ज़िऊस्त।
पेशे ईंदम हर के दम ज़द काफ़िरऊस्त॥

नोआ, अपने विरोधियों से बोला---ओ अविश्वासियो, विश्वास करो 'मैं' अब वह मैं नहीं हूँ। सच मानो वह मैं बहुत दिन हुए मर गया। अब तो मैं अखंड चेतन हूँ। मेरी अपनी सब इन्द्रियाँ मर चुकीं, अब तो मेरा मस्तिष्क, कान, आँख, जीभ सब वह है जो मेरे हृदय में आ बसा है। सच कहता हूँ, जब से मैं मरा हूँ तभी से सचमुच जीवित हुआ हूँ। इसके पहले जो कुछ मुझमें था मेरा दुश्मन था।

हृदय में परमात्मा का वास कैसे हो ? सबसे पहले तो चित्त शुद्धि होनी चाहिए जिसके उपाय ऊपर बताए गए। इसके पश्चात् भगवान् का ध्यान और उनका भजन होना चाहिए।

'ये भजन्ति च मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।'

अर्थात् 'जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं वे मुझमें और मैं उनमें निवास करता हूँ।'

प्रेम की मधुर भाषा
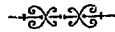
दिव्य परमात्म-प्रेम की भाषा अतिशय मधुर होती है। संसार के सभी धर्मों में भक्तों ने इसी मधुर भाषा का प्रयोग किया है, इसलिए इनमें अपूर्व आकर्षण पाया जाता है। संसार का बहुत-सा श्रेष्ठ साहित्य और संगीत इन्हीं भजनों को लेकर है।

प्रेमी और प्रेमिका परस्पर जिस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करके एक दूसरे का चित्त मोह लेते हैं, भक्तों ने भी उसी शब्दावली का प्रयोग किया है। अन्तर है तो इतना ही कि सांसारिक प्रेम में वह पवित्रता नहीं मिलती जो इस दिव्य प्रेम में है। लेकिन शब्द वही हैं—

शक्ल इन्साँ में ख़ुदा था मुझे मालूम न था।
चाँद बादल में छिपा था मुझे मालूम न था॥

"तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तः न बाह्यम् किंचन वेद नान्तरम् तद्वा अस्य एतदाप्तकामम् अकामम् रूपं शोकान्तरम्।

('जिस प्रकार प्यारी स्त्री से आलिंगित होकर पुरुष बाह्य और आंतरिक सुधि खो देता है उसी प्रकार मानवात्मा परमात्मा का

आलिंगन करके समस्त दुःखों और संपूर्ण कामनाओं से ऊपर पहुँच जाती है।)

मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा ।
आधिरात प्रभु दरसन देंगे, प्रेम नदी के तीरा ।
हिरदय राखो धीरा ।

प्रार्थना
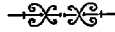
प्रार्थना भजन का एक प्रकार है। सभी धर्मों में कुछ प्रार्थनाएँ या स्तुतियाँ प्रचलित हैं। सभी धर्मों के अनुयायी इनका प्रयोग करते हैं। पाठक देखेंगे कि सभी धर्मों की प्रार्थनाएँ बहुत अंशों में एक-सी हैं। यह भी धर्म की मूलभूत एकता का ही प्रमाण है।

धार्मिक भाव का प्रदर्शन करने के लिए की गई प्रार्थना व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं वह हानिकारक भी है। सच्ची हृदय की प्रार्थना एकान्त में चुपचाप की जाती है। राष्ट्रीय भावना के उद्रेक के अवसर पर अथवा घोर सार्वदेशिक विपत्ति के समय सामूहिक प्रार्थना स्वाभाविक और अनिवार्य हो जाती है। सामूहिक रूप से इकट्ठे होकर की गई प्रार्थना यदि हृदय से और तन्मय होकर की जाय तो वह उचित, उपयोगी और फलप्रद होगी। जिस प्रकार एकान्त में पढ़ना लाभकारी होता है उसी प्रकार कक्षा में बैठकर पढ़ना भी अपनी विशेषता रखता है। सब कुछ इस बात पर अवलंबित है कि प्रार्थना का उद्देश्य क्या है, प्रार्थियों के मनोभाव कैसे हैं, उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं और किस वातावरण में किस प्रकार की प्रार्थना (सामूहिक अथवा एकान्त) की जा रही है।

प्रार्थना मनुष्य के हृदय की आँखें खोल देती हैं; क्योंकि प्रार्थना

है कामना और कामना ही संकल्प का रूप धारण करती है। प्रत्येक मानसिक अथवा शारीरिक कार्य के फलस्वरूप जो शरीरस्थ परमाणु चुम्बक की सी शक्ति से खिचकर एकत्र हो जाते हैं, वे अपने आपको समेटकर घनीभूत आनन्द का अनुभव कराते हैं। महात्मा यीसू ख्रीष्ट ने अपनी संमति दे रक्खी है—'जब तुम प्रार्थना करते हो तो दिखावा न रक्खो। दिखावटी प्रार्थना तो इसलिए की जाती है कि मंदिर में अथवा सड़क के नुक्कड़ पर जमात में खड़ा हुआ हमें लोग देखें। जब प्रार्थना करो अपने कमरे के भीतर जाओ। दरवाजा बंद कर लो और चुपचाप अपने पिता से स्तुति करो।'

प्रार्थना या स्तुति करना भावना के शुद्ध जल में स्नान करना है। स्नान करके अपने भीतर के दर्पण में अपनी परीक्षा करके देखना है (कि कोई मैल तो नहीं रहा)। इसके पश्चात् ही मनुष्य अपने दैनिक कर्त्तव्य कर्म में लगे अथवा रात्रि को विश्राम करे।

प्रार्थना का कोई समय नहीं है। जिस किसी समय चित्त में इच्छा जाग्रत हो उसी समय प्रार्थना करनी चाहिए। फिर भी साधारण जनों के लिए, अभ्यास की दृष्टि से, सभी धर्मों ने सूर्योदय और सूर्यास्त का समय निर्धारित किया है। इन दोनों ही समयों में प्रकृति देवी अपनी चरम शोभा धारण करती है, इसीलिए ये प्रार्थना के लिए अधिक उपयुक्त समय माने गए हैं।

वैदिक प्रार्थनाएँ
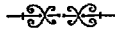
ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ।

—वैदिक गायत्री

ॐ अग्ने नय सुपथा राये

अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो

भूयिष्ठं ते नम उक्तिं विधेम ॐ ।

—वेद

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद् भद्रं तन्न आसुव ॐ ।

—वेद

ॐ, यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं

तदु सुप्तस्य तथैव एति ।

दुरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
यत् प्रज्ञानं उत् चेतो धृतिश्च
यज्जोतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । ॐ ।
ॐ, यो देवानां प्रभवश्चोद्‌भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु । ॐ ।

—उपनिषद्

अर्थात्—

तीनों लोकों में (अथवा तीनों अवस्थाओं—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति में) हे पिता, आपकी दिव्य ज्योति हमारी बुद्धि को प्रतिभा दे, प्रकाश दे और प्रेरणा दे । हम उसे (अपनी बुद्धि को) आपके दिव्य प्रकाश के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं ।

हे परमेश्वर, प्रकाश और उष्णता के आगार (अग्नि), जीवन और चेतना के अधिपति ! हमें सत्पथ पर ले चलो, जो आनंददायक है। शक्ति दो कि हम उन शत्रुओं से लड़ें जो हमें कुमार्ग पर ले जाते हैं। हम तुम्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हैं।

हे स्वर्गस्थ पिता, जगदाधिपति, समस्त अशुभ को हमसे दूर रक्खो और जो शुभ गुण हैं, वे हमें दो।

हे मेरे दिव्य चैतन्य, जो जाग्रत् अवस्था में दूर चला जाता और सुप्तावस्था में निकट आ जाता है, जिसका प्रकाश दूर-दूर तक फैला है, मुझमें शुद्ध संकल्प (सद्भावना) की प्रतिष्ठा कर।

हे मेरे चेतन मन, तू जो ज्ञानस्वरूप है और धैर्य साकार है ; तू जो अंतर का अमर प्रकाश है और जिसके विना हम कुछ भी नहीं कर सकते (स्वत्वहीन हो जाते हैं); तू मुझमें शुद्ध संकल्प की प्रतिष्ठा कर।

हे मेरे चेतन मन ! तूने भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब अपने में ग्रहण कर रक्खा है, जिसमें समस्त प्राणियों का चित्त गूँथा हुआ है (जैसे सूत्र में माला), तू मुझमें शुद्ध संकल्प की प्रतिष्ठा कर।

जो समस्त देवताओं को उत्पन्न करनेवाला, जगत् का अधिपति, महर्षि, रुद्र है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को जन्म दिया, जिस (हिरण्यगर्भ) में समस्त प्रकाशमय ब्रह्माण्ड गूँथे हुए हैं, वह हमें शुभ बुद्धि से अभिषिक्त करे।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः,
भद्रं पश्येम अक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस् तनूभि-
र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।

—वेद

हम अपने कानों से शुभ वचन सुनें। अपनी आँखों से शुभ वस्तुएँ देखें। सुदृढ़ और स्वस्थ अंगों से समस्त आयुपर्यन्त जीवित रहें। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ जिनमें आप (देवताओं) का निवास है बलवान रहें ताकि हम आपका इच्छित कार्य कर सकें।

मुख्य इस्लामी प्रार्थना
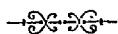
बिस्मिल्लाहिर्रेहमानिर्रेहीम।
अलहमदोलिल्लाहे रब्बिलआलमीन॥
अर्रेहमानिर्रेहीम मालिके यौमिद्दीन।
एहदे नस्सिरातुल मुस्तक़ीम॥
सिरातल्लज़ीना अन अम्ता अलैहिम।
ग़ैरिल मग़ज़ूबे अलैहिम।
वलज़्ज़ाल्लीन, आमीन॥—क़ुरान

रब्बना आतेना फिद्दुनिया हसनतवँ वाफिल।
आख़िरति हसनतऊँ व क़िना अज़ाबन्नार॥

—क़ुरान

हे जगत् के प्रभु, उदार दयामय, हम तेरा गुण गाते हैं। अंतिम न्यायवाले (क़यामत के) दिन के अधिकारी, हम तेरी ही सेवा करते और तुझसे ही सहायता माँगते हैं। हमें वह रास्ता दिखा जिस पर चलकर तेरी दुआ मिले। वही सच्चा रास्ता—वह कुमार्ग नहीं जिस पर चलकर तेरा अभिशाप मिले। ——क़ुरान

हमें इस संसार में, अपने सब वरदान दे और इसके आगे भी सुखी बना। पापों की और नरक की आग से हमें बचा।

—क़ुरान

मुख्य ईसाई प्रार्थना
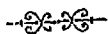
Our Father which art in heaven!
Hallowed be Thy name. Thy kingdom come.
Thy will be done in earth as it is in heaven.
Give us this day our daily bread.
And forgive us our debts as we forgive our debtors.
And lead us not into temptation, but deliver us
from evil ;
For thine is the kingdom and the power and the
glory for ever. Amen.

—(*Bible N. T.*)

Lead me, O Lord, in Thy righteousness.
Make Thy way straight before my face.
Cleanse thou me from secret faults.
Keep back Thy servant from presumptuous sins ;
Let them not have dominion over me.
Wash me thoroughly from my iniquity and
cleanse me from my sin.

पिता, तू जो स्वर्ग में है, तेरा नाम पवित्र हो। तेरा राज्य आवे। तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में पूरी होती है, पृथ्वी पर भी पूरी हो। हमें आज अपना नित्य का भोजन दे और हमारे ऋणों को क्षमा कर, जैसे हम दूसरों के ऋण क्षमा करते हैं। हमें लालच

में न डाल और दुर्गुणों से बचा। तेरा ही यह राज्य, यह शक्ति और यह अमर यश है।

हे प्रभु! हमें अपने सत्य मार्ग में लगा। सीधा रास्ता सुझा। हमारे अंदर छिपे दुर्गुणों को दूर कर। अपने सेवक को प्रबल पापों से बचा! उन्हें हम पर हावी न होने दे, हमें अनुचित कार्यों से सुरक्षित रख, पापों को धो बहा।

हीब्रू प्रार्थना
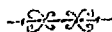
शमअ इसरएल, अदोनइ इलोहिनु विलोही अबोथिनु शेत्तरगिलेनु बेथोराथेक वेथदविकेनु बमिस्सबोथेक वेअल तबीनु लिदे हत वेलो लिदे अवेरा वेलो लिदे निस्सयों वेलो लिदे बिज्जयों वेथरहिकेनु, मियस्सर हरअ; वेथदविकेनु वेयस्सर हत्तोब वेथवेनु लेहेन वेलहस्सद वेलरहमिन बे एं नेख वेबेन कोल रोएनु वेथोमलेनु हसदिम तोविम। बरुख अत्त अदोनइ गोमेल हसदिम तोविम लिअम्मो इसरएल। अमेन।

इसरएल, सुनो, प्रभु हमारा ईश्वर है। वह एक है। हे प्रभु, हे पितरों के देवता, तू कृपा करके हमें अपने क़ानून पर चला और अपनी आज्ञाओं पर क़ायम रख। हमें पाप, कुमार्ग, प्रवंचना और घृणा में न फँसा। हमसे सारी दुर्वृत्तियों को दूर रख और हमें सत्कार्य में लगा। हम पर दया कर, अपनी नज़रों में और उन सबकी नज़रों में जो हमें देखते हैं हमें कृपा के योग्य बना। हम पर उदार होकर वरदान दे। हे प्रभु, तू धन्य है, जो अपने सेवकों (इसराएल वासियों) पर दया रखता है।

जरथुस्त्रीय (पारसी) प्रार्थनाएँ
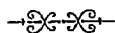
यथा अहु वैरयो अथा रतुश अशात् चित्त ह चा वंघे उष्ष दज़दा मननघो श्यश्रो धननाम् अंघेउष मजदाइ क्षथ्रेम चा अहुराइ आ। यिम द्रगुव्यौ ददात् वासतारेम्।

हम अपने प्रभु की पूजा में अपना चित्त लगाते हैं ! प्रभु जो सत्य और ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्ति का केन्द्र है। जो हमें दिव्य कार्य करने की प्रेरणा देता है, तथा जो संसार से तटस्थ रहना भी सिखाता है। और जो धीर के साथ सहनशील भी बनाता है, जिससे हम दुःख और दुर्बलता के अवसर पर शान्त रहें।

अत्तोई मज़दा तेम मैन्यूम अशा ओक्षंताय सरेघयाओ क्षथ्र मएथा मया बहिश्ता वरेतू मननघा अयाओ अरोई हाकुरेनेम् ययाओ हचिन्ते ऊर्वानो।

हे प्रभु, मज़दा, यह मेरी बुद्धि मुझे सत्य के, तुम्हारी अंतरतम आत्मा के, निरतिशय हित के, आदर्शों के भी आदर्श के दर्शन करावे। मुझे सदैव धर्म के मार्ग पर संचालित करे। इस बड़े लक्ष्य को पा लेने पर वे सब छोटी वस्तुएँ मुझे मिल जायँगी जिनकी ओर मेरी आत्मा झुकती है।

सिशा नाओ अशा पथो वंघेउष खएतेङ मननघो।

हे महाप्रभु, हमें वह सच्चे संतोष का मार्ग सुझा जिसमें चिर शान्ति मिले।

मुख्य बौद्ध प्रार्थना

बुद्धं शरणं गच्छामि ।

धर्मं शरणं गच्छामि ।

संघं शरणं गच्छामि ।

ॐ मणि पद्मे ॐ

जैन प्रार्थना
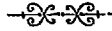
अरहंत नमो भगवंत नमो,
परमेश्वर जिनराज नमो।
प्रभु पारंगत परम महोदय,
अविनाशी अकलंक नमो।
केवल ज्ञानादर्श दर्शित,
लोकालोक स्वभाव नमो।
नाशित सकल कलंक कलुषगण,
दुरित उपद्रव भाव नमो।
अशरण शरण विराग निरंजन,
निरुपाधिक जगदीश नमो।
बोधि दीनु अनुपम दानेश्वर,
ज्ञान विमल सूरीश नमो॥

सिख प्रार्थना
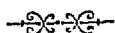
सरब काल है पिता अपारा।
देवि कालिका मात हमारा।
मनुया गुरु मोहि मनसा माई।
इन मोको सतक्रिया पढ़ाई।
देवि शिवा वर मोहि यहै।
शुभ कर्मों ते कबहुँ न टरूँ।
न डरूँ ग्ररि से जब ग्राइ लरै।
निश्चय करि अपनी जीत करूँ।
ठाढ़ भए कर जोर कर, वचन कहा सिर नाइ।
पंथ चलै तव जगत में जौ तुम करो सहाइ॥

प्रकाश की प्रार्थना
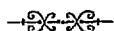
सभी धर्मों में परमात्मा से प्रकाश की प्रार्थना की गई है। वेद में वह इस प्रकार है—

ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद्गमय॥
मृत्योरमृतम् ॐ।

अर्थात्, मुझे अंधकार से प्रकाश में ले चल। असत् से सत् में और मृत्यु से अमृत में पहुँचा। क़ुरान की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

इल्लज़ीना आमनू युख़रेजोहुम।
मिनज़्ज़ोलोमाते इलन्नूर॥
नूरुन अला नूरिन यहदिल्लाहो।
लै नूरेही मय्यँशाओ॥

ऐ ईश्वरभक्तो! जिन्होंने धर्म की शरण ले ली है वे अंधकार से छूटकर प्रकाश में लाए जाते हैं।

अल्लाह ने जिस पर दया की उसे वह प्रकाश का रास्ता दिखाता है। प्रकाश से अधिक प्रकाश की ओर ले जाता है।

ईसाई न्यूमैन की स्तुति यह है—

Lead kindly light amid th' encircling gloom,
Lead thou me on.
The night is dark and I am far from home.
Lead thou me on.

अर्थात्, चतुर्दिक् के अंधकार में मुझे अपनी दया की ज्योति दिखा। रात अँधेरी है, घर दूर है, मेरे रास्ते पर प्रकाश कर।

प्रकाश की देवी मिनर्वा को की गई एक प्राचीन यूनानी स्तुति यह है—

Great Goddess hear, and on my darkened mind,
Pour thy pure light in measure unconfined :
That Sacred light, O all preceding Queen,
Which beams eternal from thy face serene.

ओ महादेवी, मेरे अंधकारभरे हृदय में अपने विशुद्ध प्रकाश की निरंतर वर्षा कर। ओ आदिमहारानी, वह दिव्य प्रकाश बरसा जो तेरे प्रशान्त मुख पर नित्य विराजित है।

उन सभी धर्मों में जिनका अब अस्तित्व नहीं रहा और सभी वर्तमान धर्मों में, 'वे छोटे हों या बड़े, प्रकाश और मार्ग-दर्शन के लिए की गई प्राथनाएँ पाई जाती हैं।

पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त
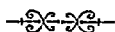
ऊपर जो प्रार्थनाएँ दी गई हैं उनके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी व्यक्तिविशेष के प्रयोजन की नहीं हैं। समस्त समाज या जाति की प्रार्थनाएँ हैं। उनमें जहाँ बहुवचन का प्रयोग नहीं भी किया गया है वहाँ भी उद्देश्य सामूहिक प्रेम और सद्भाव का ही प्रसार करना है। प्रेम और सद्भाव के बिना—ईश्वर और मानव-बंधुओं के प्रति घनिष्ठ अनुराग के बिना—प्रार्थना खोखली है, निस्सार है। स्तुति अथवा प्रार्थना से लाभ उसी दशा में होता है जिस दशा में प्रार्थी के हृदय में प्रेम हो।

जब हमारे हृदय में प्रेम का स्रोत सूख जाता है तभी हमसे अपराध होते हैं। तभी हमारी अंतरात्मा पर अंधकार का पर्दा पड़ जाता है और हम पापाचरण करने लगते हैं। इसीलिए सब धर्म प्रायश्चित्त का उपदेश करते हैं। यह तीन श्रेणियों में विभाजित है। पश्चात्ताप, प्रख्यापन और प्रायश्चित्त। तौबा, एतराफ़ और कफ्फारा। Repentance, Confession और Expiation.

बाज़ आ बाज़ आ ऊँचे हस्ती बाज़ आ।
गर काफ़िरो गब्रो बुतपरस्ती बाज़ आ।
इं दरगहे मादरगहे नाउमेदी बाज़ आ।
सद बार अगर तौबा शिकस्ती बाज़ आ।

अर्थात् 'लौट आ, लौट आ, तू जो भी हो लौट आ। काफ़िर

हो, नास्तिक हो या बुतपरस्त हो, कोई भी हो लौट आ। यह मेरा घर निराशा के लिए स्थान नहीं रखता। यदि तूने सौ बार भी नियम तोड़े हैं तो भी लौट आ।'

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

अर्थात् 'यदि कोई घोर दुराचारी भी एकनिष्ठ होकर मेरा भजन आरंभ कर दे तो वह साधु ही समझा जायगा। उसका सुधार हो गया।'

प्रायश्चित्त का पहला क़दम है पश्चात्ताप अर्थात् किए हुए दुष्कर्म के लिए पछतावा। दूसरा क़दम है प्रख्यापन अर्थात् दूसरों के सामने दुष्कर्म की स्वीकृति और तीसरा है प्रायश्चित्त अर्थात् मन को उस दुष्कर्म से फेर लेना।

आजकल मनोविज्ञान की नई शब्दावली में इसे ही नव-शिक्षण अथवा Re-education कहते हैं। यह शिक्षण मरीज़ की पुरानी आदतों और प्रवृत्तियों को बदलने के लिए हुआ करता है। यह नया वैज्ञानिक उपचार है। धार्मिक प्रायश्चित्त भी दूसरे शब्दों में यही वस्तु है। अवश्य यह प्रायश्चित्त की प्रथा रूढ़िबद्ध हो गई थी, अब इसे नवीन वैज्ञानिक आधार दिया जा रहा है। धर्म क्रमशः विज्ञान की ओर प्रवर्तित हो रहा है अथवा यह कहें कि धर्म अपना वैज्ञानिक आधार क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है।

नवीन विज्ञान भी अब केवल शरीर की चिकित्सा तक सीमित नहीं रह सकता। उसे शरीर और आत्मा दोनों का इलाज करना होगा। अब धर्म और विज्ञान क्रमशः सहकारी होते जा रहे हैं।

तीर्थस्थान और पूजागृह
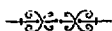
परमात्मा का साक्षात्कार करने के लक्ष्य में मूर्तिपूजा का क्या स्थान है ? वह कहाँ तक सहायक है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मूर्तिपूजा अपना वास्तविक उद्देश्य तब पूरा कर सकती है जब वह अपनी उचित सीमा में रक्खी जाय। यदि धार्मिक नेता और उपदेशक बराबर यह स्मरण कराते रहें कि मूर्ति केवल एक प्रतीक है, भगवान् के स्मरण का साधन है। इस्लामधर्म में यह आख्यान प्रचलित है कि जब उमर ने काबा के काले पत्थर, 'हजरुल अस्वद' को चूमने के संबंध में संदेह प्रकट किया (हज़रत मुहम्मद उसे चूमने का आदेश दे गए थे) तब अली ने उन्हें समझाते हुए कहा—

अल हजरो यमीनुल्लाह फिल्अर्द।

'हजर' (काला पत्थर) तो पृथ्वी पर ईश्वर का दाहिना हाथ है।

इसी प्रकार सभी धर्मों में विशेष माहात्म्य रखनेवाली मूर्तियाँ, स्नानतीर्थ, पवित्र नगर, आदि हैं जिनका उद्देश्य यही है कि वे मन को ऊँचे धार्मिक विचारों, आध्यात्मिक आदर्शों और सद्गुणों में संलग्न रक्खें।

हिन्दूतीर्थ

हिन्दूधर्म में अज्ञात अतीत से ही सप्तपुरी अथवा सात पवित्र तीर्थों की गणना की जाती रही है। उन पुरियों के नाम मायापुरी (आधुनिक हरद्वार), मथुरा, अयोध्या, काशी, अवन्तिका, कांची

और द्वारका हैं। ये सब ब्रह्मपुरियाँ कहाती थीं, और शिक्षा का केन्द्र रही हैं। जिस प्रकार आज बड़े-बड़े नगरों में विश्वविद्यालय या यूनिवर्सिटियाँ हैं उसी प्रकार उस समय इन नगरों में विद्यापीठ थे। इनमें काशी ही ऐसी पुरी है जो पिछले तीन हज़ार वर्षों से अब तक शिक्षा का केन्द्र बनी हुई है। तीर्थों का एक और मंडल चतुर्धाम या चारधाम कहलाता रहा है। इनमें हिमालय के बदरिकाश्रम, पूर्वी समुद्रतट के जगन्नाथधाम, दक्षिणी समुद्रतट के रामेश्वरम् और पश्चिमी समुद्रतट के द्वारकाधाम की गणना की जाती है। गत दो सहस्र वर्षों में सैकड़ों ऐसे नगर बस गए हैं जिनमें मंदिरों का प्राधान्य है। उनमें से प्रायः बीस ऐसे हैं। जिनका माहात्म्य उपर्युक्त सप्तपुरियों और चतुर्धामों से कुछ ही कम है।

बौद्धतीर्थ

बुद्ध भगवान् अपने अंत समय के कुछ पूर्व अपने अनुयायियों से कह गए थे कि वे निम्नलिखित चार तीर्थ स्थापित करें—१. लुम्बिनी-वन (बुद्ध-जन्मस्थान), २. बुद्धगया (सिद्धिस्थान), ३. सारनाथ (उपदेश-स्थान) और ४. कुशी नगर (परानिर्वाणप्राप्ति स्थान)।

यह आदेश उन्होंने सम्भवतः इसी लिए दिया था कि वे मनुष्यों के हृदय की इस अजेय इच्छा से परिचित थे कि वे धर्म में भी कोई बाहरी स्मारक चाहते हैं, कोई ऐसा साधन जिसके चतुर्दिक् वे सामूहिक रूप से एकत्र हो सकें और एकतासूत्र में बँध सकें।

इन्हीं धार्मिक तीर्थों में क्रमशः व्यापार-व्यवसाय भी बढ़ जाता है और वे राष्ट्रीय संस्कृति के केन्द्र बन जाते हैं।

इस्लाम के तीर्थ
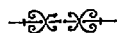
हज़रत मुहम्मद ने मक्का की तीन सौ साठ मूर्तियों का संहार करा डाला था, क्योंकि वे अपने समय की मूर्तिपूजा के बढ़ते हुए जड़त्व या रूढ़ि को पहचान चुके थे। किन्तु उन्होंने मानवहृदय की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उनमें से एक मंदिर को (जो इब्राहिम का बनवाया हुआ था), जो काबा कहलाता है, बना रहने दिया और उसकी प्रतिमा 'हजरुल अस्वद' भी स्थापित रहने दी। इस प्रकार यह संपूर्ण इस्लामधर्म का पूजास्थान हज्ज तीर्थ बना। संसार भर के मुसलमान, वे किसी भी प्रदेश में हों, हज्ज की ओर मुँह करके नित्य की उपासना करते हैं। यह धार्मिक संग्रथन का बड़ा ही उपयोगी साधन सिद्ध हुआ। किन्तु मुहम्मद साहब यह उपदेश भी देना नहीं भूले कि यद्यपि काबा सामूहिक तीर्थ है किन्तु वह आध्यात्मिक दृष्टि से कोई तात्त्विक वस्तु नहीं। क्योंकि—

वलिल्लाहिल मश्रिकु वल मग्रिबु फ़ऐनमा तवल्लु फ सम्मा वज हिल्लाह; इन्नल्लाहा वासिउन अलीम। लैसल बिर्रा अन तवल्लु वजूह कुम क़िबलिअल मश्रिके वल मग्रिबे व लाकिन्नल बिर्रा मन आमना बिल्लाहे वल यौमिल आख़िरे वल मलायकते वल किताबे वन्नबीयीन।

अर्थात् "अल्लाह सब जगह सब समयों में है। पूरब की ओर मुँह करो या पश्चिम की ओर, अल्लाह सब तरफ़ है। सारे जगत् में उसकी सत्ता व्याप रही है। पूर्व की ओर या पश्चिम की ओर मुँह करके उपासना करना धर्म नहीं है। धर्म है ईश्वर पर विश्वास करना। क़यामत के दिन निश्चय ही इसी आधार पर तुम अपने भले और बुरे कामों का फल पाओगे। धर्मग्रंथों, देवदूतों और मसीहों पर विश्वास करो।"

काबे की मस्जिद के आँगन के मध्यभाग में ज़म-ज़म नाम का कुआँ है। इस मस्जिद की बनावट और यहाँ होनेवाली पूजा-पद्धति से दक्षिणभारत के मंदिरों और वहाँ की पूजापद्धति की बड़ी समानता है। यात्रीगण आबे ज़म-ज़म का पान करते, उसे अपने शरीर पर छिड़कते, भारतीय यात्रियों की तरह बिना सिला 'एहराम' वस्त्र धारण करते और जिस प्रकार हिन्दूयात्री मंदिर की परिक्रमा करता है उसी प्रकार वे भी तवाफ़ करते हैं। फिर हजरुल अस्वद और हजरुल यमानी पत्थरों (प्रतिमाओं) को चूमते और काबे में बैठकर अल्लाह का ध्यान करते हैं। प्रसिद्ध भारतीय मंदिरों के शिवलिंगों की भाँति ये पत्थर भी दिव्य माने जाते हैं और ये मनुष्यों के हाथों से गढ़े हुए नहीं हुआ करते। मदीना, नजफ़, कर्बला और बैतुलमुकद्दस आदि अन्य तीर्थस्थान भी इस्लामी मज़हब में माने जाते हैं।

मुसलमानों का विश्वास है कि काबे की मस्जिद आरंभ में इब्राहिम द्वारा बनवाई गई थी जिनका दूसरा नाम खलील भी था।

यहूदियों का सुप्रसिद्ध तीर्थ यरूसलम नामक स्थान है।

ईसाईतीर्थ
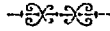
ईसाईधर्म में तीर्थस्थानों की बड़ी महिमा है। खूीष्ट का जन्म-स्थान बेथलहम, उनका बाल्यकालीन निवासस्थान नाज़रथ, उनका अभिषेकस्थान जार्डन नदी, उनका प्रचार-क्षेत्र गलीली, टाइबीरियस, केपरनौम और यरूसलम तथा उनका शूली चढ़ने का स्थान कालवेरी, सभी ईसाई तीर्थ बन गए हैं। इनके अतिरिक्त रोम, कीभ, कैंटरबरी और लार्डीज आदि अन्य पवित्र स्थान भी ईसाईधर्म में माने जाते हैं। ईसाईधर्म की पूजा भी धूप, दीप और जल से होती है जैसी कि हिन्दुओं की पूजा हुआ करती है।

जैनमंदिर
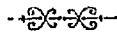
जैनधर्म यद्यपि वेदान्त की भाँति मूर्ति को प्रधानता नहीं देता किन्तु तीर्थंकरों की पूजा उनके यहाँ ज़ोरों से प्रचलित है। बड़े सुंदर जैनमंदिर भारतवर्ष में बहुत से स्थानों पर पाए जाते हैं। शिल्पकला-विशेषज्ञों का मत है कि आबू पर्वत पर के दिलवारा जैनमंदिर सौंदर्य की दृष्टि से ताजमहल के समकक्ष हैं।

सिख-उपासना
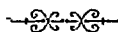
सिख भी सिद्धान्ततः मूर्ति-पूजक नहीं हैं, किन्तु उनके यहाँ भी मूर्ति-पूजा खूब प्रचलित है। गुरु ग्रंथ साहब (सिखधर्म-पुस्तक) का आँख मूँदकर, विना अर्थ की ओर ध्यान दिए पाठ किया जाता है और ग्रंथ को क़ीमती वस्त्रों से लपेटकर मूल्यवान् आसनों पर सजाकर उसकी पूजा करने की परिपाटी चली हुई है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं मूर्तिपूजा की ओर वालकस्वभावी और अविकसित मनों की श्रद्धा अधिक होती है। एक सीमा के भीतर यह उपयोगी भी है और अनिवार्य भी। किन्तु इसका अधिक विस्तार (वाह्य वस्तुओं का अधिक आश्रय) एक दुर्वलता भी है। वहुत अधिक मूर्तियाँ और धर्म के ऊपरी प्रतीक हानिकारक सिद्ध होते हैं।

इस्लामधर्म में कहा गया है कि एक मुअज़्ज़िन (वाँग देनेवाले) की आवाज़ जहाँ तक जाय वहाँ तक एक ही मस्जिद होनी चाहिए। यही वात प्रकारान्तर से हिन्दूधर्म-ग्रंथों में भी कही गई है। उनका कहना है कि प्राचीन मंदिर की मरम्मत करना और वहाँ की पूजा जारी रखना, नया मंदिर वनवाने की अपेक्षा कहीं अच्छा है।

अन्य क्षेत्रों की ही भाँति धार्मिक क्षेत्र में भी अच्छी चीज़ का दुरुपयोग हो जाया करता है। मूर्तिपूजा का भी दुरुपयोग हुआ है। इस्लामधर्म में एक सामूहिक देवस्थान से संतुष्ट न होकर लोगों ने छोटी-छोटी क़ब्रों और ईदगाहों को पूजना आरंभ कर दिया है। उसी प्रकार हिन्दूधर्म में भी मूर्तिपूजा अपनी सीमा के वाहर पहुँच गई है। लोग नैतिक आचार और आध्यात्मिक तत्त्व की ओर ध्यान न देकर वाहरी आडंवरों में फँस गए हैं।

ईश्वर का मंदिर हृदय में है
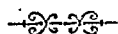
पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।
प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य ह्यद्वयस्य कुतो नतिः॥

—परा पूजा

अर्थात्, जो सब स्थानों में भरा हुआ है वह मंदिर में कैसे समा सकेगा ? जो सबका आधार है उसके लिए आसन क्या दिया जाय ? जो अनंत है उसकी प्रदक्षिणा किस प्रकार हो ? जो अद्वितीय है उसे प्रणाम कैसा ?

न नाकपृष्ठे न महेन्द्रलोके
न नागराज्ये न रसातले वा।
न पर्वताग्रे न समुद्रगर्ते
न चाष्टसिद्धिष्वनिदं हि मोक्षम्॥
न पातालं न च विवरं गिरीणां
नैवान्धकारः कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहायां यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टं कवयो वेदयन्ते॥

(योगभाष्य)

अर्थात् न स्वर्ग में, न इन्द्रलोक में, न नागराज्य में, न रसातल में, न पर्वतों के शिखर पर, न समुद्र के गर्त में, न अष्ट सिद्धियों में ही मोक्ष का निवास है। जिस गुहा में शाश्वत ब्रह्म का निवास है वह अखंड बुद्धिवृत्ति है, चेतनसत्ता है, अनित्य संसार का ज्ञान नहीं।

बावजूदे कि मज़दए तेरा नन्हो अक़राब।
सफ़हे मंसहफ़ पै लिखा था मुझे मालूम न था॥

अर्थात्, यद्यपि तेरा यह कथन धर्मग्रंथ में लिखा मिला कि मैं तेरे इतने निकट हूँ जितने निकट तेरी अपनी नसें भी नहीं हैं किन्तु मुझ नादान को उस लेख का मर्म समझ में न आया।

That which thou art thou dreamest not ; so vast
That lo ! time present, time to be, time past,
Are but the sepals of thy opening soul
Whose flower shall fill the Universe at last.
(James Rhodes.)

अर्थात्, तू कितना विशाल है, इसका तू स्वप्न में भी विचार नहीं करता। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सब तेरी ही पंखड़ियाँ हैं। पंखड़ियाँ जब खुलेंगी, फूल जब खिलेगा (आत्मज्ञान जब होगा) सारा विश्व उसी के आमोद से भर उठेगा।

इसी प्रकार बुद्ध भगवान् ने भी बाहरी उपचारों की अपेक्षा हृदय की सत्ता को ही महत्त्व दिया है।

अत्त दीप बिहरथ अत्ता सरना अनत्र सरना।
वय धम्मा संखारा अप्पमादेन संपादेथ॥

अर्थात्, अपनी आत्मा के दीपक आप वनो। अपनी ही शरण जाओ। आत्मा को छोड़ दूसरे किसी का आश्रय न करो।

आत्मा ही स्थिर रहनेवाली वस्तु है, शेष सब उडंछू है। आत्मा का ही संपादन अप्रमत्त भाव से संलग्न होकर करो।

गुरु नानक जो सिख धर्म के संस्थापक हैं यही शिक्षा दे गए हैं—

काहे रे मन बन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेखा तो संग रहत सदाई॥
पुहुप माहिं जस बास बसतु है मुकुर माहिं जस छाई
तैसे ही हरि बसत निरंतर घटहि में खोजहु भाई॥
भीतर बाहर एकहि जानो यह गुरु ज्ञान बताई।
कहै नानक बिनु आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई॥

चतुर्थ अध्याय

धर्म और कला-कौशल
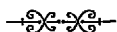
प्रसंगवश यहाँ हम यह उल्लेख कर देना चाहते हैं कि ललित और उपयोगी कलाओं के मुख्य और श्रेष्ठ अंश, उदाहरणार्थ काव्य, नाटक, नृत्य, संगीत, चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य, वस्त्राभरण, नगरनिर्माण, वाटिकानिर्माण, वृक्षारोपण, पथनिर्माण आदि, सबने सभी देशों में धर्म से सर्वाधिक सहायता और प्रोत्साहन प्राप्त किया है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि सच्चा धर्म हृदय की उदात्त वृत्तियों का विकास करता और उन्हें उन्नततर बनाता है और इन्हीं वृत्तियों से कला का जन्म होता है। इस प्रकार धर्म ने लौकिक क्षेत्र में भी, इन्द्रियों के साम्राज्य में भी, पवित्रतम मानवसुख का सृजन किया है।

साथ ही जब जब धर्म का अधःपतन हुआ है उसमें बाह्याडंबर की अति हुई है, फ़रेब घुसा है, रूढ़ियाँ जमा हुई हैं अथवा जब जब धर्म के उपदेशकों और परिपालकों में विवेक का ह्रास हुआ है, उनकी प्रकृति में नीचता आई है, जब जब प्रबल भौतिकवाद के प्रहारों से धार्मिक आदर्शों को धक्का लगा है, उनकी मिट्टी पलीद हुई है, उनका गला घोंटा गया है, तब तब कलाओं की भी अधोगति हुई है। उन समयों में वे अपने उच्च आसन से स्खलित होकर भद्दी, स्थूल, विषयवासनाप्रधान, बर्बर, हिंस्र और राक्षसी प्रकृति की हो उठी हैं।

इससे स्पष्ट है कि धार्मिक उत्थान का कलाओं की उन्नति में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनों एक दूसरे से कितने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं।

कर्ममार्ग
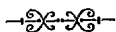
ऊपर भक्तिमार्ग के अंतर्गत हम प्रार्थना और उसकी उपयोगिता का उल्लेख कर चुके हैं। किन्तु केवल प्रार्थना कर लेने और यह मना लेने से, कि भगवान् की इच्छा जगत् में पूरी हो, हमारे कर्तव्य की इति नहीं हो जाती। हमें यह भी जानना होगा कि भगवान् की इच्छा क्या है और उसे पूरा भी करना होगा। इसी प्रकार केवल कर्तव्य कर्म को करने की इच्छा रखना ही पर्याप्त नहीं है। कर्तव्य कर्म का ज्ञान होना चाहिए और साथ ही उसका आचरण करने की योग्यता भी।

मनुष्य कोई एकान्तवासी प्राणी नहीं है। वह एक कुटुंब में पैदा होता है और कई कुटुंबों के बीच पलता और बड़ा होता है। उसके सुख-दुःख दूसरों के सुख-दुःख से जुड़े होते हैं। जब तक सारा समाज एक सर्वव्यापक शान्ति का उद्देश्य लेकर संघटित नहीं होता और जब तक प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का विभाजन उक्त सामाजिक संघटन को ध्यान में रखकर नहीं करता तब तक ज्ञान और भक्ति की शिक्षा का न तो सम्यक् रूप से पालन किया जा सकता है और न उससे इस लोक अथवा परलोक में ईप्सित सुख की प्राप्ति ही हो सकती है।

वेदों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के चार मुख्य विभाग हैं। प्रथम वह जिसमें वह विद्या अर्जन करता है। द्वितीय वह जिसमें

वह अपनी प्राप्त शिक्षा के अनुसार जीविका अर्जन करता और परिवार के भरण-पोषण में लगता है। तृतीय वह जिसमें जीविका अर्जन को छोड़कर समाजोपयोगी कार्यों को निःशुल्क या थोड़ा-सा शुल्क लेकर संपादित करता है और चतुर्थ वह जिसमें वह मुख्यत: धार्मिक चिन्तन, जीवमात्र के हितसाधन आदि कार्यों में संलग्न होता है। वैदिक धर्म में ये चार आश्रम कहाते हैं, इनका नाम क्रमश: ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम है।

वेदों के अनुसार स्वभाव से और व्यवसायप्रवृत्ति से चार वर्गों के मनुष्य होते हैं। १ ज्ञानी, २ कर्मी, ३ व्यवसायी और ४ श्रमिक। यहाँ मनुष्य के अंतर्गत स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हैं।

इन्हीं के अनुसार चार प्रकार के कर्म भी हैं—१ बुद्धिविशिष्ट, २ क्रियाविशिष्ट, ३ व्यवसायविशिष्ट और ४ श्रमविशिष्ट।

चार ही रोज़ियाँ भी हैं—१. दान, २. कर, ३. वणिक् और ४ चाकरी।

चार उपकरण भी अलग-अलग हैं—ब्राह्मण के लिए पुस्तक, क्षत्रिय के लिए शस्त्रास्त्र, वैश्य के लिए यंत्र आदि और शूद्र के लिए मज़दूरी के औज़ार।

चार आश्रमों की व्यवस्था इसलिए की गई है कि प्रथम दो आश्रमों में स्वार्थवृत्ति अथवा संग्रहवृत्ति पूरी हो जाय तत्पश्चात् दो आश्रमों में सामाजिक हित और अपरिग्रह की वृत्तियाँ प्रमुख रूप से विकसित हों। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सामंजस्य स्थापित हो जाय।

ये विभाग, जो ऊपर बताए गए हैं, अन्योन्याश्रित हैं जिस प्रकार मनुष्य का शिर, उसकी बाहुएँ, उसका उरुदेश और उसके पैर एक

दूसरे से संबद्ध हैं। ये चार मुख्य विभाग हैं, इनके अंतर्गत उपविभाग भी हुआ करते हैं किन्तु वे एक या दूसरे मुख्य विभाग में लय होने के लिए ही होते हैं।

बहुत संक्षेप में वैदिक कर्ममार्ग अथवा व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म की यही रूपरेखा है। इसे वर्णाश्रम धर्म भी कहा गया है और यह वैदिक धर्म का तात्त्विक अंश है।

विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों में इस विभाजन को लेकर थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है किन्तु इनका मूलभूत सत्य सबमें एक-सा है। सभी समयों में सभी जातियों के इतिहास में ये विभाजन किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं।

वैदिक संस्कृत में इन वर्गों या वर्णों का नाम क्रमशः—१ ब्राह्मण, २ क्षत्रिय, ३ वैश्य और ४ शूद्र है। इस्लामधर्म में इनके रूपान्तर हैं—१ आलिम २ आमिल ३ ताजिर और ४ मजदूर। इनके जरथुस्त्रीय नाम हैं——१ ऐर्यम्ना, २ वेरेजेन, ३ खैतुश और ४ गोवास्त्रां।

पाश्चात्य देशों में इन्हें क्रमशः १. Clergy या पुरोहित वर्ग, २. Nobility या सामंत वर्ग, ३. Commons या जनवर्ग कहा गया है, जिसमें एक चौथा Proletariat या श्रमिक वर्ग अभी हाल में जोड़ा गया है।

इन चारों वर्णों के अपने-अपने कर्तव्य और अधिकार भी हैं। ब्राह्मण का कर्तव्य है सच्चे और उपयोगी ज्ञान का संचय और प्रचार। अधिकार है तीनों वर्णों का सम्मान प्राप्त करना। क्षत्रिय का कर्तव्य है त्राण करना, अरक्षितों की रक्षा करना, देश में शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखना। उनका अधिकार है शासनसत्त्व प्राप्त करना और अधिनायक होकर आज्ञा देना। वैश्य का कर्तव्य है, राज्यनियमों

के अनुसार उन समस्त वस्तुओं की उपज और वितरण की व्यवस्था करना जो समाज के लिए आवश्यक और उपयोगी हैं। अधिकार है राज्यनियमों के अनुसार उचित व्यावसायिक लाभ उठाना। शूद्र का कर्तव्य है, दूसरों की सहायता और सेवा करना। अधिकार है उचित वेतन पाना और आमोद-प्रमोद के साधन प्राप्त करना। इन सामान्य नियमों के अतिरिक्त विशेष नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविका की आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों और प्रत्येक की योग्यतानुसार कर्तव्य करने का रास्ता खुला हो।

जो समाज अपना संघटन इस आधार पर करता है और कर्तव्यों तथा अधिकारों के उचित विभाजन का ध्यान रखता है उसीको हम शान्ति के लिए संघटित समाज कहेंगे। कहना न होगा कि आदर्श धार्मिक समाजव्यवस्था यही है।

इस आधार पर संघटित समाज से न किसी को भय हो सकता है और न इसे ही किसी का भय होगा। इसके हाथ में आत्मरक्षा के लिए शक्तिशाली फ़ौजी संघटन होगा। यह दूसरे राष्ट्रों को भी शान्ति के लिए संघटित करने में योग देगा। इस सामाजिक संघटन के मूल में इतना संतुलन और सामंजस्य है, कि यह संतुलन बाहर के राष्ट्रों के बीच आपस में भी संतुलन का भाव उत्पन्न करेगा। यह प्रत्येक राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाकर संसार के पारस्परिक संघर्ष के कारणों को बहुत घटा देगा और परस्पर सद्भाव को बढ़ाने में बड़ी हद तक सहायक होगा।

इस सामाजिक व्यवस्था में उपज और खपत, आय और व्यय के बीच बड़ा सुंदर नियंत्रण है। आय और व्यय का नियंत्रित न होना ही-संघर्ष का सृजन किया करता है। मछलियाँ बड़ी जल्दी

बढ़ती हैं, फल यह होता है कि वे एक दूसरे को खाने लगती हैं। अत्यधिक तृष्णा उत्पन्न होने पर अत्यधिक घृणा भी उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य द्वारा व्यक्तिगत और जातीय जीवन की वृद्धि होती है (यदि ब्रह्मचर्य का अनुसरण वैज्ञानिक रीति से किया जाय)। अनियंत्रित कामवासना मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। प्रथम आश्रम में ब्रह्मचर्यपालन द्वारा इन्द्रियों का नियमन करना युद्ध का नैतिक स्थानापन्न है। इस नैतिक युद्ध में जितनी ही सफलता हमें मिलेगी, भौतिक युद्ध उतना ही घट जायगा।

इस व्यवस्था में व्यक्तिगत और सामूहिक, स्वार्थ और परार्थ वृत्तियों का अद्भुत मेल है और जीवन क्रमशः उच्चतर होता जाता है। इस व्यवस्था में सभी समुन्नत और अनुन्नत जातियाँ और राष्ट्र सम्मिलित हो सकते हैं और मानवमात्र का संग्रथन हो सकता है। ध्यान देकर देखा जाय तो यह पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति सिद्ध होती है और इसमें मानस-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, समाज-विज्ञान, जनन-विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति और शिक्षा-विज्ञान के सर्वोच्च सिद्धान्तों का समाहार हो जाता है।

वयस्क व्यक्तियों को (पचास वर्ष के बाद) वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण कराकर लोकहित के कामों में लगाना और उनको धनो-पार्जन का निषेध करना, उनके और युवकों के बीच संघर्ष को बड़ी हद तक कम कर देगा। साथ ही अनुभवी और निःस्वार्थी मंत्रियों और जन-सेवकों की संख्या बढ़ा देगा। केवल एक आश्रम में सांसारिक विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट कर शेष तीन में उसकी ओर से चित्त हटाने की शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि वह एक आश्रम भी संयमित और मर्यादित

हो जायगा। संघर्ष की और अनियंत्रित भोग की उच्छृंखलता दब जायगी। जीवन अधिक सात्विक होगा।

यह व्यवस्था मानव-समाज की आवश्यकता की पूर्ण रूप से पूर्ति करती है। मानव-प्रकृति को उचित विकास और उन्नति के पथ पर ले जाती है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कर्तव्यों और अधिकारों का न्याय-पूर्ण वितरण करती है। मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क 'स्वार्थ और परार्थ' के बीच सामरस्य स्थापित करती और जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य (मानव प्रेम और ईश्वरप्राप्ति) को करतलगत कर देती है।

यह धार्मिक व्यवस्था है, क्योंकि इसका आधार सब धर्मों में मिलता है। मूलतः यह वेदों में पाई जाती है। समाजशास्त्रसंबंधी दूसरी कोई व्यवस्था इसके मुक़ाबले नहीं रक्खी जा सकती।

आज की अवस्था

—~~—
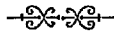
आज अवस्था यह है कि जो ब्राह्मणत्व आत्मसंतोषकारक, उदात्त और सर्वसमन्वयी था वह स्वार्थी, अंधविश्वासी, गुमराह और विभेदक हो गया है। जो क्षात्रधर्म रक्षालु और समृद्धिशील था वह शोषक और अत्याचारी हो उठा है। जो उदार और न्यायी व्यवस्थापक थे वे लोभी और पेशेवर क़ानून-व्यवसायी हो गए हैं। रोगनिवारक चिकित्सक अब पैसा ऐंठनवाले बन गए हैं। सबका पोषक वाणिज्य व्यवसाय सर्वसंहारी और उद्दाम अर्थनीति बन गया है। जिसमें सत्य और संयम के लिए स्थान ही नहीं। जीवन को मधुर, सजीव और उन्नतिशील बनानेवाली पारिवारिक संस्था विलासवासना का अड्डा बन गई है।

इसका मुख्य कारण यह है कि समाज के शिक्षक और उपदेशक (ब्राह्मण) वर्ग अपना उच्च उद्देश्य भूलकर अपनी नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति खोकर शासक और व्यवसायीवर्ग का आश्रित हो गए हैं। क्षत्रियों और वैश्यों का नेता न रहकर ब्राह्मण उनका अनुगंता बन गया है।

आधुनिक सभ्यता जीवन के सभी क्षेत्रों में विभीषिका-सी हो गई है। राष्ट्रों ने इतने बड़े-बड़े क़र्ज़ लाद लिए हैं और इतना विशाल शस्त्रास्त्रों का संग्रह कर रक्खा है कि कोई एक व्यक्ति यह काम करता तो पागल और आत्मघाती कहलाता। मानव-शक्ति का अधिकाधिक बड़ा भाग

ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में लग रहा है जो जीवन की मूल आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्त्ति नहीं करती बल्कि १. विलास, क्रीड़ा-कौतुक, दिलबहलाव और समययापन का साधन जुटाती हैं अथवा २. स्थल, जल और वायुमार्गों द्वारा आक्रमण करनेवाले युद्ध के उपकरण भारी पैमाने पर तैयार करती हैं, जिनका सुनिश्चित परिणाम मानव-जीवन, मानव-शक्ति और मानव-संपत्ति का संहार करना है।

और इस घोर अव्यवस्था या दुर्व्यवस्था को हम एकमात्र 'व्यावहारिक' कहकर ग्रहण कर रहे हैं! इस 'व्यावहारिक' शब्द ने हमें इतना मोह लिया है कि जो कुछ हमारी रुचि के अनुकूल है वही व्यावहारिक है और बाक़ी सब अव्यावहारिक। आज राजनीति में जिधर देखिए 'व्यावहारिकता' की धूम मची हुई है। यद्यपि हम यह भली भाँति जानते हैं कि कल तक जो कुछ अव्यावहारिक था—स्टीम, गैस, बिजली, रेडियो, हवाई जहाज़ आदि वह सब आज हमारी आँखों के सामने है। अब ज़रा इस 'व्यावहारिकता' का मुलाहज़ा कीजिए।

धर्म को अव्यावहारिक समझकर समुन्नत राष्ट्रों की सीमा से निकाल ही दिया गया है। फलतः आचारसंबंधी नियम जो धर्म से संपर्कित थे बहिष्कृत हो गए हैं और उनके बदले नये क्रान्तिकारी नियम (या अनियम) स्थापित हो गए हैं। इन नये नियमों को हम इन्द्रियभोग की स्वतंत्रता और अबाध 'प्रेम' का पर्यायवाची कह सकते हैं।

राजनीति में यह व्यावहारिकता उन व्यावहारिक व्यवस्था-सभाओं में देखी जा सकती है, जो स्वार्थी और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षी,

प्रदर्शनप्रेमी, वक्ताओं का अड्डा हो रही हैं। सर्वजनहित का प्रश्न, जो वहाँ प्रधान होना चाहिए था, किसी के ध्यान में नहीं आता। राष्ट्रों के भीतर वर्गयुद्ध और गृहविद्रोह के बीज बोये जा रहे हैं।

अर्थनीति में तो इन व्यावहारिक महापुरुषों ने संसार भर का दिवाला निकाल दिया है। बेरोज़गारों की संख्या आश्चर्यजनक पैमाने पर बढ़ गई है। और जो रोज़गार में लगे हैं वे संसार को युद्ध की नारकीय यंत्रणाओं में डालने के साधन तैयार कर रहे हैं।

गृहनीति में पाश्चात्य व्यावहारिकता ने ऐसा प्रबंध किया है कि पश्चिम के कुछ बड़े नगरों में तलाक़ों की संख्या विवाहों की संख्या के आधे तक पहुँच गई है! विवाह होने के कुछ ही महीनों अथवा हफ़्तों के भीतर होनेवाले तलाक़ों की संख्या बढ़ती जाती है। नक़ली उपायों से बच्चों का पैदा करना रोका जा रहा है (संतान‌निरोध किया जा रहा है)। फिर भी जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है और अतिरिक्त जनसंख्या के लिए रोटी तथा उपनिवेश प्राप्त करने की समस्या भी जटिल होती जा रही है। बिना विवाह के ही अधिकाधिक संख्या में संतानें उत्पन्न हो रही हैं। और इस संपूर्ण 'व्यावहारिकता' के बावजूद जो असली व्यवहार की बात है—जो समझदारी का सवाल है—कि हम अपनी आय के अनुसार ही अपना व्यय का हिसाब रक्खें, जितनी सौर है उतना ही पैर पसारें—उसे कोई सुनना नहीं चाहता।

शिक्षण के क्षेत्र में 'सभ्यता आवश्यकताओं की वृद्धि और उनकी पूर्ति के साधनों की उन्नति को कहते हैं' का सिद्धान्त बर्ता जा रहा है। प्राचीन सादा जीवन, उच्च विचार का सिद्धान्त अव्यावहारिक ठहराकर 'बालाये ताक़' रख दिया गया है। फलतः विज्ञान अब

लोकहितैषिता का लक्ष्य खोकर व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दुर्गुणों की छाप ग्रहण करता जा रहा है। सर्वसंहारक अस्त्रों की मारक शक्ति ही सभ्यता और उन्नति का मापदंड बन रही है।

कला और मनोरंजन के क्षेत्रों में खानपान, चलचित्र और मोटर की तूती बोल रही है। मदिरा, महिला और पैसे का अधिकार हो रहा है। अधिक सूक्ष्म और सुकुमार प्रसाधन, अधिक दिव्य मनोविनोद, अधिक अंतरंग प्रकृतिप्रेम भुलाए जा रहे हैं।

संभव है आप कहें कि कुल मिलाकर मनुष्यसमाज की स्थिति आज जैसी अच्छी इसके पूर्व कभी नहीं थी और कभी-कभी तो इससे कहीं अधिक गई-बीती थी। यहाँ हम इस प्रश्न को लेकर विवाद नहीं करेंगे। संभव है यह बात ठीक हो। पर तब तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम आज की समुन्नत अवस्था में ऐसी 'व्यावहारिकता' न बर्तें जो पुराने 'अव्यावहारिक' पैमानों से भी निन्द्य और हेय प्रतीत हो।

संसारव्यापी वैज्ञानिक धर्म और वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था ही, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, हमारी वर्तमान दुर्व्यवस्था को दूर करने में सहायक तथा समर्थ हो सकती है।

हमारा कर्तव्य
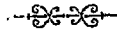
हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। हमें केवल राष्ट्रीय आधार पर ही नहीं, मानवीय अथवा धार्मिक आधार पर नवीन समाज का निर्माण करना होगा। ऐसे आदर्शों का आश्रय लेना होगा जो दूरदर्शी हैं, स्थायी हैं और मानव-स्वभाव के अनुकूल हैं।

रेल, जहाज़ और वायुयान ने छोटे-छोटे राष्ट्रीय घेरों को मिटा दिया है और अब संसार के सभी बड़े-बड़े विचारक अंतर्राष्ट्रीय संघटन को ही वर्तमान दुरवस्था का सबसे अमोघ उपचार बतला रहे हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय संघटन धार्मिक और वैज्ञानिक आधार पर ही हो सकता है।

आज के वैज्ञानिक और धार्मिक नेता के हाथ में ही संसार का भविष्य है। प्राचीन काल के छोटे-छोटे वर्गों में बँटे हुए समाज से आरंभ होकर हम अब तक प्रतियोगितापूर्ण, पृथक्त्ववादी राष्ट्रीयता तक पहुँच पाए हैं। अब अगला क़दम सहयोगी समाजवाद और उस आदर्शात्मक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का है। इस व्यवस्था के निर्माण में धर्म विशेष महत्त्वपूर्ण भाग लेगा।

हमारा काम उस संघर्षप्रधान वर्गवाद से नहीं चल सकता जो भौतिकवाद पर स्थित है, यांत्रिक सभ्यता का हिमायती है और

आर्थिक साम्य तथा एकाधिपत्यपूर्ण शासनव्यवस्था द्वारा संचालित है। हम वह समाजवाद चाहते हैं जो व्यक्तिगत और सामाजिक विकास की व्यवस्था करता है। प्रत्येक व्यक्ति की नैसर्गिक रुचि और योग्यता का ध्यान रखता है और जीविका के साधन प्रत्येक की योग्यतानुसार जुटाता और परिश्रम का फल न्यायपूर्ण रीति से वितरित करता है।

एडुअर्ड सेग्विन-नामक महान् शिक्षणशास्त्री का कथन है कि 'समस्त विद्यार्थिसमाज को साम्यवाद में दीक्षित करने का सबसे बड़ा साधन है प्रेम। उनमें सौहार्द की वृद्धि उसी तरह होनी चाहिए जैसे उनकी देखने और सुनने की शक्ति की वृद्धि होती है। इसके लिए नवीन यंत्र और नए शिक्षक नहीं चाहिए केवल नए भावों को जागृत करना है। बच्चे को यह अनुभव कराना होगा कि उसे प्यार किया जाता है, ताकि वह भी बदले में प्यार करने को इच्छुक हो। यही हमारी शिक्षा का प्रथम और अंतिम लक्ष्य है। हमारे विद्यार्थियों को विज्ञान, साहित्य, चिकित्सा, दर्शन आदि विषयों से लाभ है किन्तु उनकी सच्ची सामाजिक भावना तो विकसित होगी प्रेम से। जो उन्हें प्यार करते हैं वे उनके सच्चे उद्धारक हैं।'

प्रेम और कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही सच्चे साम्यवाद के एकमात्र आधार हैं। अतएव धर्म के वे संस्थापक, जिनका लक्ष्य समस्त हृदयों को एक सूत्र में बाँधना रहा है, संसार के सबसे बड़े शिक्षक और मानवमात्र के हितचिन्तक सच्चे साम्यवादी सिद्ध होते हैं।

सभ्यता वहीं सार्थक है जो सद्भावना से भरी हो, प्रेमपूर्ण सक्रिय सहानुभूति से ओतप्रोत हो। जो विषय-भोग, घमंड, घृणा,

क्षोभ, द्वेष और स्वार्थपरता के बदले आत्मसंयम, मर्यादा, साहस, सहनशीलता और कर्तव्यपरायणता की प्रेरणा दे, सच्चा समाजवाद इन्हीं वृत्तियों के आधार पर स्थापित हो सकेगा। आज की तरह का नक़ली और बलात् लाया हुआ 'कम्यूनिज़म' उसकी स्थानपूर्ति नहीं कर सकता और न हृदयहीन पूँजीवाद या नृशंस शस्त्रवाद ही उसका स्थानापन्न हो सकता है। इन दोनों की रचना ऊपर गिनाए हुए दुर्गुणों के आधार पर हुई है इसलिए उनसे मानवसमाज सुखी नहीं है, बल्कि पीड़ित है।

कोई भी कृत्रिम व्यवस्था अथवा शब्दजाल ऊपर निर्देश किए हुए धार्मिक और हार्दिक समता की स्थापना नहीं कर सकता और जब तक हृदय में साम्य भावना नहीं है, जीवमात्र की एकता की अनुभूति नहीं है—दूसरे शब्दों में जब तक परमात्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है—तब तक सच्चे साम्यवाद का अस्तित्व कहाँ ? आज का शिक्षक अथवा उपदेशक यदि इस वास्तविक साम्यवादी और समुन्नत सभ्यता के समीप मानव-समुदाय को पहुँचाना चाहता है तो उसे अपने में जीवैक्यभाव की स्थापना करनी होगी। समस्त सद्विचारों और सद्भावनाओं का संग्रह करना होगा और तब नवीन संतति को उसकी दीक्षा देनी होगी। तभी मानव-सभ्यता में सच्चे समाज-वाद का प्रवेश होगा। इस महान् लक्ष्य की पूर्ति करने का साधन है धार्मिक शिक्षण।

धर्मग्रन्थों में स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर लाने की बात कही गई है। यह राज्य निश्चय ही एक ऐसा स्वराज्य है जिसमें सर्वोच्च 'स्व' का शासन और उसी की व्यवस्था काम करती है। सर्वोच्च 'स्व' उन पुरुषों में पाया जाता है जो समस्त प्राणियों के साथ अपने

एकत्व की प्रतीति कर चुके हैं। अतः वे विवेकी और स्वार्थरहित होंगे। लोकहितैषणा और अनुभव दोनों का उनमें सन्निवेश होगा।

ये उच्च 'स्व' वाले महानुभाव जिस किसी क्षेत्र में काम करेंगे उसी की समुन्नति होगी। वहीं स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर अवतरित होगा।

विशेषकर शिक्षा और व्यवस्था-विभागों में इन महानुभावों का आधिपत्य होना चाहिए। सच्चा स्वराज्य इन्हीं के द्वारा उपलब्ध और संचालित हो सकता है।

हमारा शिक्षक (जो समाज के किसी भी वर्ग को शिक्षा देने का काम करता है—वह अध्यापक हो, पत्रकार हो या जनसेवक हो) स्वभाव से तपस्वी, त्यागी, प्रज्ञानी (अध्यात्म का ज्ञाता) और विज्ञानी (भौतिक विज्ञान का जानकार) होना चाहिए। उसी की शिक्षा सच्चे साम्य, सख्य और स्वतंत्रता के आदर्शों का प्रसार कर सकेगी। ये ही आदर्श सच्ची सभ्यता के जनक बनेंगे।

सच्चा शिक्षक कैसा हो?
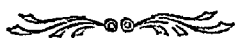
सच्चे शिक्षक के कुछ गुणों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि उसकी सामाजिक स्थिति कैसी हो? क्या वह आर्थिक दृष्टि से दूसरे वर्गों का उपजीवी—उनका आश्रित हो? आर्थिक पारतंत्र्य एक महान् व्याधि है। शिक्षक को उससे अलग रहना होगा। इसीलिए ऊपर उसके तपस्वी और त्यागी होने की शर्त रक्खी गई है। इस विषय में धर्मग्रन्थों के विचार बहुत ही स्पष्ट हैं। मनुस्मृति कहती है—

> यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
> स पर्यायेण यातीमान् नरकानेकविंशतिम्॥

अर्थात् 'जो शिक्षक (यहाँ इस शब्द का व्यवहार व्यापक अर्थ में हो रहा है) लोभी और अन्यायी राजा से अर्थ ग्रहण करता है वह उन्हें सुधार नहीं सकता, उसे उन्हीं के साथ इक्कीस प्रकार के नरकों में जाना पड़ता है।'

> चूँ दिहद क़ाज़ी ब दिल रिश्वत क़रार।
> कै शिनासद ज़ालिमज़ मज़लूमी ज़ार॥

अर्थात् यदि क़ाज़ी या न्यायकर्ता दिल में घूस लेने का

विचार कर लेता है तब वह अपराधी को निरपराध से अलग नहीं कर सकता।

ब्राह्मण (शिक्षक) और क्षत्रिय (शासक) के बीच कैसा संबंध रहना चाहिए यह बहुत ही सुन्दर ढंग से मनुस्मृति में बताया गया है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः।
ब्रह्मैव संनियंतृ स्यात् क्षत्र हि ब्रह्मसंभवम्॥

अर्थात्, बिना ब्राह्मण (आध्यात्मक शक्ति) के क्षत्र की उन्नति नहीं हो सकती और न बिना क्षत्र के ब्राह्मण की उन्नति हो सकती है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं, किंतु यदि क्षत्रिय प्रमादी हो जाएँ और ब्राह्मणों का तिरस्कार करने लगें तो यह ब्राह्मण का कर्तव्य हो जाता है कि वह क्षात्रशक्ति की रोकथाम करे। ब्राह्मण ऐसा करने में समर्थ हैं, क्योंकि जिस ब्राह्मणशक्ति ने (वैज्ञानिक रूप से) शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया है वे उसका विनाश भी कर सकते हैं।

ब्राह्मणं तु स्वधर्मस्थं दृष्ट्वा बिभ्यति चेतरे।
नान्यथा क्षत्रियाद्यस्तु विप्रस्तस्मात् तपश्चरेत्॥
—शुक्रनीति

अर्थात्, जब तक ब्राह्मण को स्वधर्म में स्थित देखते हैं तब तक क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण उससे डरते रहते हैं। जब ब्राह्मण

स्वधर्म में स्थित नहीं रह जाता, तब उसके प्रति क्षत्रियादिकों को भय नहीं रह जाता है। इसलिए ब्राह्मण को चाहिए कि वह अपनी तपस्या में दृढ़ रहे।

स्पष्ट है कि शिक्षक (ब्राह्मण) वर्ग को ऊँची नैतिक और आध्यात्मिक सतह पर रहना अत्यावश्यक है।

उपसंहार
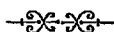
सब धर्मों की एकता के दृष्टान्तस्वरूप दो सुन्दर कथाएँ प्रचलित हैं। इन्हीं से हम अपनी पुस्तक का उपसंहार करेंगे। इनमें एक कथा वैदिक और दूसरी इस्लामी ग्रन्थों से ली गई है। वैदिक कथा इस प्रकार है—

एक समय की बात है कि छः अंधे आदमी एक हाथी के समीप आ पहुँचे। उस विशाल पशु के एक-एक अंग को सबने अलग-अलग देखा और उसके विषय में विवाद करने लगे। एक ने उसकी पूँछ का अग्र भाग पकड़ा था, वह बोला हाथी तो झाड़ू जैसा है। दूसरे ने उसकी सूँड़ पकड़ी थी, उसने कहा यह तो साँप-जैसा है। तीसरे ने उसका कान पकड़ा था, वह कहने लगा, हाथी तो पंखा-जैसा है। चौथे ने उसका पेट टोया था, उसने राय दी कि हाथी नगाड़े-जैसा है। पाँचवें ने एक पैर पकड़ा और बतलाया हाथी खंभे-जैसा है। छठे ने उसका दाँत पकड़ा और कहा हाथी एक बड़ी गदा-जैसा है।

संयोगवश एक दूसरा आदमी उस रास्ते से जा रहा था। उसने इन अंधों को झगड़ते देखा। उसके आँखें थीं, वह देखता था। उसने उन्हें समझाया कि हाथी वास्तव में क्या है। उसने कहा कि तुम अलग-अलग जो कह रहे हो वह सब मिलकर हाथी बना है और मिला भी इस तरह है कि अलग-अलग निर्जीव टुकड़े नहीं हैं बल्कि एक जीवित वस्तु है। विज्ञान उन अनेक हिस्सों में से किसी

एक या दो को लेकर भौतिक जगत् का स्वरूप देखता है। अलग-अलग धर्म अपने-अपने विशेष अंग का आग्रह करते हैं, किन्तु वैज्ञानिक धर्म अथवा धार्मिक विज्ञान इन सबका समन्वय करके कहता है कि एक ही अखंड परमात्म-तत्त्व भिन्न-भिन्न स्वरूपों में प्रकट हो रहा है।

इस्लामी कथा इस प्रकार है—

एक समय की बात है कि एक रूमी, एक अरब, एक पारसी और एक तुर्क ज़िन्दगी के रास्ते से गुज़रते हुए अचानक एक जगह इकट्ठे हो गए। लम्बी यात्रा में धूल-गर्द, काँटा-कंकड़, सर्दी-गर्मी की तकलीफ़ उठाने के बाद उन्हें भूख लग रही थी। पर वे एक दूसरे की भाषा नहीं जानते थे। इशारे से उन्होंने बात की और जितने भी उनके पास पैसे थे इकट्ठे किए। अब सवाल था कि वे खरीदें क्या। अरब बोला—एनब। तुर्क बोला—उज़म। पारसी बोला—अंगूर और रूमी बोला—अस्ताफ़ील। सबके चेहरे क्रोध से तमतमा उठे, आँखें लाल हो गईं, घूँसे चलने लगे। इसी समय एक फल बेचनेवाला उस रास्ते से गुज़रा। ये फलवाले प्राय: सभी देशों की भाषा में अपने फलों के नाम जानते हैं। उनका साबका पड़ता रहता है। वह झट उन चारों के बीच आ गया और अपनी अंगूरों की डाली उनके सामने रख दी। सबका क्रोध शान्त हुआ, चेहरों पर मुस्कराहट दौड़ गई। सबने देखा कि जो वह चाह रहा था वही तो फलवाले की डाली में मौजूद है। अरबी 'एनब' तुर्की उज़म', फ़ारसी 'अंगूर', रूमी 'अस्ताफ़ील', पह्‌वी 'दाख', संस्कृत 'द्राक्षा', अंग्रेज़ी 'ग्रेप' एक ही फल के नाम हैं जो उस फलवाले की डाली में मौजूद थे।

फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का,
दर अस्ल सब एक ही है यारो,
जो आबे साफ़ी की मौज में है,
उसी का जलवा हबाब में है।

अंतर केवल नाम का है, वस्तु सब एक ही है। ओस की बूँद और महासागर में एक ही जल की सत्ता है।

प्यारे भाइयो और बहनो, हम सभी जीवन के रास्ते पर चलते-चलते एक जगह आ मिले हैं (जैसे वे चारों यात्री आ मिले थे)। हम सबको जीवन की भूख और जीवन की प्यास है। हमने पवित्र धर्मग्रंथों के निर्माता, जीवनफल वितरण करनेवाले उदारहृदय महापुरुषों से यह फल पाया है। जिस प्रकार माता अपने अंगजात बच्चों को, जो कुछ वे माँगते हैं, देने में नहीं हिचकती, उसी प्रकार ये जीवनफल भी हमें भरपेट मिल गए हैं। इनकी मिठास हमें याद रहे और हम इनके एकता या प्रेम के बीज को हृदय की भूमि में बो दें। ताकि इस अमृतफल से हम कभी भी वंचित न रहें, बल्कि अधिक-अधिक मात्रा में उसका उपभोग कर सकें।

शाद बाश ऐ इश्क़े ख़ुश सौदा-इ-मा।
ऐ दवाए जुमला इल्लत हा-इ-मा।
ऐ इलाजे नख़वतो नामूस-इ-मा।
ऐ तु अफ़लातूनो जालीनूस-इ-मा।
वेदोवस्ता अल् क़ुराँ इंजील नीज़।

काब ओ बुतख़ान ओ आतिश्कदा।
क़ल्बे मन मक़बूलकर्दी जुम्ला चीज़।
चूं मरा जुज़ इश्क़ नै दीगर ख़ुदा॥

'ऐ दिव्य प्रेम! तू सदा जीवित रह। तेरा आनन्ददायक पागलपन ही जीवन की सारी आधि-व्याधि की दवा है। अहंकार और दंभ का तू ही उपचार है। तू मेरे लिए कला, विज्ञान, धर्म सब कुछ है। वेद, अवेस्ता, बाइबल, अलक़ुरान, मंदिर, मस्जिद, पगोडा और गिरजाघर सबको मेरा हृदय प्रेम के आलिंगन में बाँध लेता है। मेरा एकमात्र धर्म प्रेम ही है।'

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

सब जीवन के दुर्गम मार्ग को कुशलतापूर्वक पार करें, सबका कल्याण हो। सब सद्बुद्धि प्राप्त करें। सबको सर्वत्र आनंद प्राप्त हो।

ॐ, आमीन, ऐमेन

पंचम अध्याय

परिशिष्ट
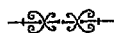
कुछ अन्य साक्ष्य

या राम कहो या रहीम कहो,
दोनों की ग़रज़ अल्लाह से है।
या इश्क़ कहो या प्रेम कहो,
मतलब तो उसी की चाह से है।
या धर्म कहो या दीन कहो,
मक़सूद उसी की राह से है।
या सालिक हो या योगी हो,
मन्शा तो दिले आगाह से है।
क्यों लड़ता है मूरख बंदे,
यह तेरी ख़ाम ख़यीली है।
है पेड़ की जड़ तो एक वही,
हर मज़हब एक एक डाली है।
बनवाओ शिवाला या मस्जिद,
है ईंट वही चूना है वही ;

मेमार वही मज़दूर वही,
मिट्टी है वही गारा है वही।
तकबीर का जो कुछ मतलब है,
नाक़ूस का भी मन्शा है वही।
यह जिनको नमाज़ें कहते हैं,
है उनके लिए पूजा ही वही।
फिर लड़ने से क्या मतलब है,
ज़ी-फ़हम हो तुम नादान नहीं।
जो भाई पै दौड़े गुर्रा कर,
वह हो सकता इन्सान नहीं।
क्या क़त्ल व ग़ारत ख़ूँरेज़ी,
तारीफ़ यही ईमान की है?
क्या आपस में लड़कर मरना,
तालीम यही क़ुरान की है।
इन्साफ़ करो तफ़सीर यही,
क्या वेदों के फ़रमान की है।
क्या सचमुच यह ख़ूँख़्वारी ही,
आला ख़सलत इन्सान की है?
तुम ऐसे बुरे आमाल पै अपने,
कुछ तो ख़ुदा से शर्म करो।

पत्थर जो बना रक्खा तुमने,
इस दिल को ज़रा तो नर्म करो ॥

संन्यासी कौन है—

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ॥
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ।
समः सिद्धावसिद्धौ च द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
यदृच्छालाभसंतुष्टः कृत्वापि न निबध्यते ॥

जो निर्द्वन्द्व है (सुख-दुःखादि द्वन्द्व जिसे नहीं व्यापते), नित्य-सत्ता में स्थित है, आत्मा को जान गया है और सांसारिक संपत्ति इकट्ठी करने अथवा उसे सुरक्षित रखने की लालसा नहीं रखता, जो न किसी से द्वेष करता है और न राग रखता है उसे नित्य-संन्यासी समझना चाहिए ।

जो द्वन्द्वरहित है वह सुखपूर्वक समस्त बंधनों से छूट जाता है । जो सफलता और -असफलता में समान भाव रखता है और जो कुछ प्राप्त हो गया उसी से संतुष्ट रहता है वह संसार का चाहे जो काम करे, बंधन में नहीं पड़ सकता ।

अंग्रेज़ कवि विलियम ब्लेक ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है—

Joy and woe are woven fine,
A clothing for the soul divine ;
Under every grief and pine
Runs a joy with silken twine,

It is right it should be so;
Man was made for joy and woe;
And when this we rightly know
Safely through the world we go.

अर्थात्, सुख और दुःख महीन तारों से बीने हुए वस्त्र हैं, जिन्हें मानवात्मा धारण करती है। प्रत्येक दुःख और क्लेश की तह में सुख का रेशमी सूत्र छिपा है। ठीक ही है, ऐसा होना ही चाहिए। मनुष्य सुख और दुःख दोनों के लिए बना है, इस बात को जब हम जान जाते हैं तब आराम के साथ संसार को पार कर जाते हैं।

एक फ़ारसी कहावत है—

हर कमाले रा ज़वाले व हर ज़वाले रा कमाले।

अर्थात् 'प्रत्येक गुण के साथ एक दुर्गुण और दुर्गुण के साथ गुण लगा हुआ है।'

सवृते शय बज़िद्दे शय।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु का प्रमाण उसकी विरोधी वस्तु में है।

सुख और दुःख—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
चक्रवत् परिवर्तंते सुखदुःखे दिवानिशम्॥

—महाभारत

सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख, चक्र की भाँति, दिन-रात घूमा करते हैं।

क़ुरान भी यही कहता है:—

इन्ना मअल् उस्रे युस्रन फ इन्न मअल् उस्रे युस्र।

सुख के अनंतर दुःख और दुःख के अनंतर सुख निश्चय ही आते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

जो दुःखों में उद्विग्न नहीं होते और सुखों में स्पृहा नहीं करते, जो वीतराग और स्थिर बुद्धिवाले हैं वे ही सच्चे मुनि कहे जाते हैं।

कर्तव्य-कर्म का महत्त्वः—

इल्म चन्दाँ कें बेश्तर ख़्वानी।
गर अमल दर तू नीस्त नादानी॥
न मुहक़्क़िक़ बुवद न दानिशमंद।
चार पाए बरू किताबे चंद॥

तू कितना भी ज्ञानी हो, यदि तू भले कर्म नहीं करता तो नादान है। तब तो तू उस पशु के समान है, जिस पर पुस्तकों का भार लदा है। बोझा ढोना ही तेरे हाथ लगा।

ब एहसान आसूदा कर्दन दिले।
बेहअज़ अल्फ़ रकअत बहर मंज़िले॥
—सूफ़ी काव्य

दिल बदस्त आवर के हज्जे अकबरस्त।
अज़ हज़ारा काबा यक दिल बेहतरस्त॥
दिल गुज़रगाहे जलीले अकबरस्त।
काबा बुनगाहे ख़लीले आज़िरस्त॥
—सूफ़ी

अर्थात् सैकड़ों स्तुतियों से कहीं अच्छा है प्रेमपूर्ण सहायता द्वारा एक भी दिल को खुश करना। किसी एक हृदय का प्रेम से परितोष करना, काबा की तीर्थ-यात्रा से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का अकेला हृदय सैकड़ों हज़ारों पत्थर के काबों से श्रेष्ठ है, क्योंकि मनुष्य के हृदय में ईश्वर का निवास है, काबा तो अब्राहम के हाथ की बनाई निर्जीव इमारत है।

गीता में कहा है:—

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

जो मेरे द्वारा प्रवर्तित इस संसारचक्र का अनुवर्तन नहीं करता, अपने विहित कर्मों का पालन नहीं करता उसका जीवन पाप-जीवन है। वह इन्द्रियों का सुख चाहता है, और व्यर्थ जीवित रहता है।

स्वधर्मकर्मविमुखाः कृष्णकृष्णेति राविनः।
ते हरेर्द्वेषिनो मूढाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

जो अपने कर्तव्य-कर्म से विमुख होकर 'कृष्ण-कृष्ण' का शोर मचाते हैं, वे मूढ़ कृष्ण के द्वेषी हैं, क्योंकि कृष्ण का जन्म तो धर्म (कर्तव्य-कर्म) के लिए हुआ था।

इस संबंध की एक बड़ी सुंदर कविता अंग्रेजी भाषा में है। इसमें अबू-बिन अधम नाम के एक मानव-प्रेमी का स्वप्न वर्णित है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ केवल उस कविता का हिन्दी अर्थ दे रहे हैं:—

अबू-बिन-अधम—उनके से पुरुषों की संख्या बढ़े—
एक रात अपने शान्ति स्वप्न से जग उठे और
देखा कमरे में चाँदनी छनकर आ रही है।
उसे और भी प्रकाशित करता हुआ—मानो कुमुदिनी खिली हो—
एक देवदूत स्वर्ण पुस्तक पर कुछ लिख रहा है।
परम शान्ति जिसमें हो साहस भला क्यों न हो !
साहस से उसने उस दिव्य मूर्ति से पूछा—
'आप क्या लिख रहे हैं ! दिव्यमूर्ति सिर उठा बोली—
आकृति में उसके स्नेह की माधुरी भरी थी—
'उनके नाम लिखता हूँ जिन्हें ईश्वर से प्रेम है।'
अबू ने पूछा 'मेरा भी नाम उनमें है या नहीं ?' 'नहीं
नाम नहीं है, उत्तर मिला। अबू तब और भी शान्ति से
किन्तु और भी दृढ़ता से बोला 'प्रार्थना है, मेरा
नाम उनमें लिख लें जो बंधु-मानवों से प्रेम करते हैं।'
देवदूत ने लिख लिया और लिखकर चला गया।
दूसरी रात आया वह जाग्रत प्रकाश ले और
उसने उनके नाम दिखाए जिन्हें ईश्वर का प्रेम-वरदान था मिला।
अरे, उसमें तो अबू-बिन का नाम सबसे ही पहला था।

प्रेम-पूर्ण कर्तव्य-कर्म और बंधु-भाव का गुणगान सभी धर्मों में समान रूप से किया गया है। शास्त्रों के अभ्यास का यही फल

बताया गया है कि उसके शब्दों को पकड़कर न बैठा जाय बल्कि सारूप से कहे गए धर्म का पालन किया जाय।

शास्त्राण्यभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रंथानशेषतः॥

बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रों का अभ्यास करके उनमें बताए गए ज्ञान-विज्ञान को (उच्च शिक्षा को) आचरण में लाए। जिस प्रकार अन्नकण चाहनेवाला व्यक्ति छिलके या पयाल को छोड़ देता है, उसी प्रकार तत्त्व का जिज्ञासु व्यक्ति कर्तव्य-कर्म को जान लेता और शब्दाडंबर का परित्यागकर धर्माचरण में लग जाता है।

'ढाई अच्छर प्रेम के....'
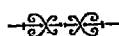
प्रेम के ढाई अक्षरों का गुणगान कबीर साहब ने किया है। सच पूछिए तो इन ढाई अक्षरों में धर्म का सारा तत्त्व छिपा हुआ है। इनका पूरा विश्लेषण तो असंभव है, पर स्थूल रूप से इनका आभास प्रस्तुत पुस्तक में देने की कोशिश की गई है। और अब धर्म के इस सारभूत तत्त्व, प्रेम की ही चर्चा से पुस्तक समाप्त भी की जाती है। समस्त धर्मों की एकता का आधार प्रेम है और लक्ष्य भी प्रेम ही है, इसलिए पुस्तक की परिसमाप्ति भी प्रेम के ही संकीर्तन से होनी चाहिए।

महात्मा शेख़ शादी ने प्रेम का कितना भव्य स्वरूप चित्रित किया है:—

ता बियामोख़्तेम अब्जदे इश्क़।
रक़मे ग़ैर अर्जों न मीदानेम॥
के बचश्माने दिल मबीं जुज़ दोस्त।
हर चे बीनी बेदां के मज़हरे ओस्त॥
चूं के वाक़िफ़ शुदम ज़े पर्दए राज़।
दम बदम ईं तराना मे गोयेम॥

अर्थात्, जब से हमने प्रेम के अक्षर सीखे हैं, दूसरी कोई बात हमें सूझती नहीं। अब दिल की आँखें खुल गई हैं, जिधर देखिए वही नज़र

आता है। जब से हमने रहस्य का पर्दा उठते देखा है, हर साँस में हमारे ओठों से प्रेम का ही गान निकलता है।

विश्वसम्मेलन के उपलक्ष्य में बनाये गये सर्वराष्ट्रीय अंग्रेजी गान का हिन्दी भावार्थ निम्नलिखित है:—

एक ही जगद्व्यापी बंधुभाव,
एक ही विश्वजनीन हित।
एक उत्पत्ति, एक ही शासन,
एक ही नियम में सब निर्धारित।
एक ही उद्देश्य में बँधे सब लोग,
एक ही जीवन सबमें उद्घाटित।
प्रेम का जीवन यह।
काम, लोभ, भय, अभिमान, घृणा
हमें कर चुके थे बहुत दिन अनमना,
उनका शासन छिना।
जाति, वर्ण, और मत की संकीर्णता
अतीत दुःस्वप्न के साथ बिता,
जागा मनुष्य, जागे हम देखते हैं
जीवन की सामूहिक एकता।